सुबोधिनी—ते भगवन्तं नासूयन्, असूयया न दृष्टवन्तः। प्रथमतः प्रवृत्तिं ज्ञात्वापि भगवन्मायया मोहिता नासूयन्। अग्रे तु स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान् दारान् मन्यमाना जाताः यतो **व्रजौकसः** पूर्वापरानुसन्धानरहिताः। सर्वथाङ्गीकृता इति वा। एतादृशानां प्रभौ दोषारोपासम्भवादिति भावः। अयमर्थः सर्वजनीन इति **खल्वित्युक्तम्**। भगवत्सान्निध्येऽपि मोहार्थं **तस्येति**। बुद्धिरेव तेषां भ्रमात्। शिष्टं भगवत एवेति। मननमात्रेणैव सर्वदोषपरिहारः। अनेन तास्वपि दोषारोपो निवारितः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—गोपों को प्रथम यह मालूम था कि हमारी स्त्रियां कृष्ण के पास गई हैं तो भी भगवान् की माया से मोहित हो गए जिससे भगवान् को ईर्षा से नहीं देखने लगे अर्थात् भगवान् से ईर्षा नहीं की। कारण कि बाद में अपनी स्त्रियों को उन्होंने अपने पास ही हैं यो समझा। क्योंकि गोप होने से उनको आगे पीछे का विचार नहीं रहता है। श्लोक में गोप न कह कर जो उनके लिए 'व्रजौकसः' कहा है उसका दूसरा आशय प्रकट यह है कि इससे यह जाना जाता है कि गोप व्रजवासी हैं अतः सर्व प्रकार अङ्गीकार किए हुए हैं। इसलिए सब जानते हैं कि उनकी बुद्धि भगवान् में दोषारोपण करने जैसी नहीं थी। शुकदेवजी ने भी इसकी निश्चयता बताने के लिए निश्चयवाचक 'खलु' पद दिया है।

गोपियां भगवान् के पास थी फिर भी गोप सब यही समझते रहे कि वे हमारे पास हैं। यह मोह भगवान् की माया के कारण हुआ। उन्हें तो भ्रम वश गोपिकाओं के पत्नी होने का तथा अपने पार्श्व में होने का भान ही केवल है और अवशिष्ट □ सभी कुछ भगवान् का है तथा भगवान के समीप ही है। ऐसे भान के कारण उन्हें भगवान् में दोष बुद्धि नहीं हुई सो उनके दोष भी निवृत्त हो गए। इससे गोपिकाओं में भी दोषारोपण का निवारण हो गया ॥३८॥

□**योजना**—गोप के पास तो केवल माया मोहवश भान ही था बाकी अवशिष्ट देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण जीव सगे सम्बन्धी घरबार आदि सभी कुछ भगवान् का ही है भगवदीय ही है। गोपियों का सभी कुछ भगवदीय ही है परन्तु बीच में उनके पतियों के रूप में प्रसिद्ध गोपों का भी निवेदन हो गया अतः भगवान् में दोष बुद्धि जगना उनके स्वयं के लिए दोष रूप था, वह अपने पार्श्व में मानने के कारण दूर हो गया अतः सारे दोष दूर हो गए। गोपों के दोष दूर होने पर निर्दोष गोपों की संगत से संसर्ग दोष की संभावना गोपिकाओं में से भी हट जाती है।

आभास—एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य उक्तां लीलामुपसंहरति ब्रह्मरात्र इति।

आभासार्थ—इस प्रकार इस लीला में जो शङ्काओं अथवा दोषों की प्रतीति होने लगी उसका परिहार कर अब इस 'ब्रह्मरात्र' श्लोक में लीला की समाप्ति करते हैं।

श्लोक—ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

श्लोकार्थ—ब्रह्ममुहूर्त होते ही भगवान् की प्यारी गोपियां, इच्छा न होते हुए भी भगवान् की आज्ञा मान कर अपने अपने घर गई ॥३९॥

सुबोधिनी—अरुणोदयो ब्रह्मरात्रम्, तस्मिन् उपावृत्ते सम्यक् जाते । तदन्तर्यामितया प्रविष्टो भगवान् गृहे गन्तव्यमितीच्छामुत्पादितवान् । ततः भगवतानुज्ञाताः । यतो भगवान् मोक्षदाता । ताश्चेत् आसन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति, तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवेनानुमोदिताः यद्यपि तासामिच्छा न स्थिता, सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनस्य कृतत्वात्, किं गृहेण लोकैर्वेति, तथापि गोप्य इति, विपरीतबुद्धिर्हठबुद्धिश्च तासां नास्तीति, स्वगृहान् ययुः । तथापि तासां न गृहाः प्रियाः, किन्तु भगवानेव । नापि संसारभयम्, यतो भगवतः प्रियाः ॥३९॥

व्याख्यार्थ—'ब्रह्मरात्र' शब्द का अर्थ 'अरुणोदय' है । जब अरुणोदय पूर्ण रूप से हो गया, तब हृदय में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट प्रभु ने भीतर यह इच्छा प्रकट की कि घर जाना चाहिए । पश्चात् भगवान् ने भी प्रत्यक्ष आज्ञा की कि 'घर जाओ' कारण कि भगवान् किसी को भी बन्धन में रखना नहीं चाहते हैं । क्योंकि आप मोक्ष देने वाले हैं तथा गोपियां यहां रहेंगी तो मेरा स्मरण पूर्ण रीति से न कर सकेगी और घर जायेंगी तो परोक्ष होने से जब सन्ध्यापर्यन्त अन्तःकरण से मेरा स्मरण करेंगी तब मोक्ष की अधिकारिणियां बनेगी । अतः मोक्ष दाता ने इस प्रकार आज्ञा दी । यद्यपि गोपीजनों के मन में यह विचार था कि जब सर्व का त्याग कर भगवान् का भजन करना ही हमने स्वीकार कर लिया है तब हमारा घर से अथवा लोगों से क्या लेन देन है, जो हम घर जावें, तो भी गोपियां थी उनको किसी प्रकार का हठ अथवा उनमें भगवान् के लिए कोई विपरीत बुद्धि भी नहीं थी जिससे भगवान् की आज्ञा न माने । उनको यह निश्चय था कि यह भगवान् है, अतः संसार का भय भी नहीं था । निर्भय होने में विशेष कारण यह था कि वे भगवान् की 'प्यारियां' थी ॥३९॥

आभास—मोक्षार्थमिदं चरित्रमिति ज्ञापयितुं एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह **विक्रीडित**मिति ।

आभासार्थ—यह चरित्र भगवान् ने मोक्ष के लिए किया है अतः इसके श्रवण का फल 'विक्रीडितं' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।**
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।४०।

श्लोकार्थ—व्रजवनिताओं के साथ की हुई भगवान् की इस क्रीड़ा का श्रद्धायुक्त हो श्रवण करे वा वर्णन करे वह भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त कर शीघ्र हृदय के रोग रूप काम को नाश करता है और तत्क्षण[1] धीर बन जाता है ॥४०॥

सुबोधिनी—व्रजवधूभिः सह भगवत इदं विशेषेण क्रीडितं श्रद्धान्वितो भूत्वा सम्यक् कथ्यमानमुपशृणुयात् । अथवा वर्णयेत् । श्रवणानन्तरमेव कीर्तनमित्यथशब्दः । य इति नात्र

१—उसी समय

वर्णादिनियमः, किन्तु यः कश्चन। भगवतो माहात्म्यश्रवणादेवमपि मोचयतीति। भक्तानां च सर्वथा प्रतिपत्तिश्रवणाच्च। भगवति परां भक्तिमुपगतः। ततो भक्त्या अन्तः स्थिरीभूतया हृदयस्य रोगरूपं काममाशु शीघ्रमेवापहिनोति। यः पूर्वं हृदयबाधकत्वेन स्थितः, शीघ्रमेव च बाधकर्ता, तमाश्वेव दूरीकरोति। श्रवणमात्रेणैव। ततः पूर्ववासनया पुनरुद्गमे अचिरेणैव धीरो भवति। अत इदं साभिप्रायं श्रोतव्यमिति फल-प्रकरणत्वात् फलमुक्तम् ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मण-भट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशम-स्कन्धविवरणे त्रिंशाध्यायविवरणम्।

व्याख्यार्थ—गोपियों के साथ भगवान् ने जो यह विशेष प्रकार से रमण किया है उसको श्रद्धा पूर्वक श्रेष्ठ प्रकार की हुई कथा द्वारा सुने और सुनने के अनन्तर स्वयं उसका वर्णन करें अर्थात् अन्यों को सुनावे। श्लोक में 'यः' शब्द आया है जिसका आशय यह है कि इस लीला का श्रवण तथा कीर्तन कोई भी मनुष्य कर सकता है, इसमें वर्ण वा आश्रम का कोई नियम नहीं है। यह वर्ण करे यह वर्ण न करे, ब्रह्मचारी करे गृहस्थ न करे वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जिसमें कोई गुण नहीं है वह भी केवल भगवान् के माहात्म्य श्रवण से ही मुक्त हो जाता है। भक्त तो सर्वथा भगवान् की शरण वाले हैं वे तो श्रवण करने से भगवान् में शीघ्र ही परम भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। अन्तः करण में स्थिर हुई उस भक्ति से हृदय के रोग रूप काम को शीघ्र ही भगा देता है अर्थात् नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि जो काम प्रथम हृदय में स्थित होकर भक्ति में बाधक था, और जल्दी ही भक्ति के आने में विघ्न करता था उसको शीघ्र ही केवल श्रवण से दूर फेंक देता है। पश्चात् रही हुई वासना से यदि काम का उद्भव हो भी जाय तो भी, यह श्रवण से धीर हो जाने से उसका कोई प्रभाव इस पर नहीं पड़ता है। जिससे वह स्वयं हार कर चला जाता है। अतः यह फल प्रकरण, भावार्थ के साथ सुनना चाहिए। इस श्लोक में लीला के श्रवण का 'फल' कहा है क्योंकि यह फल प्रकरण है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के ३० वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस फल' अवान्तर प्रकरण का "श्री" धर्म निरूपक पांचवा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

१—उसी वक्त,

इस अध्याय में महारास का वर्णन है ।

अष्ट सखाओ की वाणी का महारस निम्न पदों से पान करें—

मोहन रच्यो अद्‌भुत रास ।
संग मिलि वृषभान तनया गोपिका चहुँ पास ।।
एक ही सुर सकल मोहे मुरलि सुधा प्रकास ।
जलहु थल के जीव थकि रहे मुनिन मनहि उदास
थकित भयो समीर सुनिके जमुन उलटी धार ।
सूर प्रभु व्रज बाम मिलि बन निशा करत विहार ।।

रास रच्यो वन कुंवर-किसोरी ।
मंडप विपुल सुभग वृन्दावन, जमुना पुलिन श्यामघन-गोरी ।।
बाजत बेनु रवाब किन्नरी, कंकन नूपुर किंकिनी-सोरी ।
ततथेई ततथेई शब्द उघटत पिय, भले बिहारी-बिहारिनि-जोरी ।।
बरुह मुकट चरन तट आवत, गहै भुजनि मैं भामिनि-भोरी ।
आलिंगन चुंबन परिरंभन 'परमानन्द' डारत त्रिनु तोरी ।।

रास-रस गोविंद करत विहार ।
सूर-सुता के पुलिन मधि मानों फूले कुमुद कल्हार ।।
अद्‌भुत सतदल विकसित मानों, जाही जुही निवार ।
मलय पवन वहै सरद-पूरन चंद, मधुप-झंकार ।।
शुघरराइ संगीत कला-निधि मोहन नंद-कुमार ।
व्रज-भामिनि-संग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार ।
उभय सुरूप सुभगता-सीवां कोक-कला सुख-सार ।
'कुंभनदास' प्रभु स्वामी गिरधर पहिरें रसमय हार ।।

जीत्यौ माई ! मदन रास-मंडल हरि ।
जो न जीत्यौ सतमरव पसुपति अज,
जोग समाधि नेम तप व्रत धरि ।।
जमुना पुलिन जुबति-समूह में,
कमल नयन बर कूजत बेनु कल ।
राकापति-कर रंजित कानन,
मंद सुगंध बहै मलयानिल ।।
करज-परस नीबी-बंद मोचन,
कुच जुग सरस आलिंगन, बाहुबल ।
"कृष्णदास" प्रभु सब बिध समरथ,
गोवर्द्धनधर रसिक नट नवल ।।

नाचत लाल गोपाल रास में सकल ब्रज बधु संगे ।
गिडि गिडि तत थुग तत थुग थेई थेई भामिनी रति रस रंगे ।।
सरद विमल उडुराज विराजत गावत तान तरंगे ।
ताल मृदंग झांझ अरु झालरि बाजत सरस सुधंगे ।।
सिव बिरंचि मोहे सुर सुनि सुनि सुर नर मुनि गति भंगे ।
'गोविंद' प्रभु रस रास रसिक मनि मानिनी लेत उछंगे ।।

मुकुलित बकुल मधुप-कुल कूजे, प्रफुलित कमल गुलाब फूले ।
मंगल गान करत कोकिल-कुल नव मालती लता लगि झूले ।।
आइ जुवति-जूथ रास-मंडल खेलत स्याम तरनिजा-कूले ।
'छीत-स्वामी' बिहरत वृंदाबन गिरिधरलाल कल्पतरु-मूले ।।

देखो देखोरी नागर नट नर्तत कालिंदी तट
गोपिन के मध्य राजे मुकुट लटक ।
काछिनी किंकणी कटि पीतांबर की चटक
कुंडल किरण रवि रथकी अटक ।। १ ।।
ततथेई तातथेई शब्द सकल घट
उरप तिरप गति पगकी पटक ।
रास में श्री राधे राधे मुरली में एक रट
नन्ददास गावें तहां निपट निकट ।।२।।

अद्भुत नट-भेखु धरें जमुना तट स्याम सुंदर
गुन निधान गिरिवरधर रास-रंगु नाचे ।
जुवति-जूथ संग मिलि गावत केदार रागु
अधर बेनु मधुर-मधुर सप्त सुरनि सांचें ।।
उरप-तिरप लाग- डाट तत-तत-तत-थेई-तथेई-थेई
उघटत सब्दावलि गति भेद कोउ न बांचे ।
'चतुभुज' प्रभु बन बिलास, मोहे सब सुर अकास
निरखि थक्यो चंद-रथ हि पच्छिम नहिं खांचें ।।

रास रमि श्रमित भई ब्रज बाल ।
निसि सुख दै जमुना जल लैगए भोर भयो तेहि काल ।
मन कामना भई परि पूरन रही न एकौ साध ।
षोडस सहस नारि संग मोहन कीन्हो सुख अगाध ।
जमुना जल बिहरत नंद नन्दन संग मिली सुकुमारि ।
सूर धन्य धरनी वृन्दावन रवि तनया सुखकारि ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'षष्ठो अध्याय'

स्कन्धानुसार एकत्रिंशो अध्याय

सुदर्शन और शंखचूड का उद्धार

इस फल उप प्रकरण में भगवान् ने रूप और नाम भेद से दो प्रकार की लीला की है। प्रथम पांच अध्यायों में स्वरूप से पांच प्रकार की लीला का वर्णन आया है अतः वह रूप लीला प्रकरण है। इन दो अध्यायों में नाम लीला प्रकरण प्रथक् है। स्वरूप लीला का जब भक्त अनुभव करते हैं, तब उनसे अन्य वैष्णव धर्म स्वतः छूट जाते हैं, उनके छूटने से कोई दोष नहीं, क्योंकि, वह स्वरूप लीला के अनुभव का अंग है। नाम लीला, प्रमाणलीला है, अतः उसमें वैष्णव धर्मों का त्याग नहीं है, किन्तु, अन्य देवों के भजन का त्याग आवश्यक अंग है। यदि भक्त उस अंग का पालन नहीं करता है, तो दुःख भोगता है जिससे उसको भगवान् छुडाते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण निम्न ४ कारिकाओं में किया गया है—

कारिका—**एवं रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रसवर्णनम्।**
निरूप्य नामलीलातो रसार्थमिदमुच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार, पांच अध्यायों में भगवान् ने मन वाक्, प्राण, इन्द्रिय

और शरीर से पांच प्रकार से रसदान देकर भक्तों को जो आनन्दित किया, उसका वर्णन कर, अब नाम लीला द्वारा रसदान के लिए यह प्रकरण कहते हैं ॥१॥

कारिका—**एवमुद्धृतभक्तास्तु यद्यन्यं समुपासते ।**
दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु ॥२॥

कारिकार्थ—जिन भक्तों का अन्याश्रय छुड़ाकर भगवान् ने उद्धार किया है, वे यदि अन्य की उपासना कर, अनन्यता धर्म त्याग करते हैं, तो वे दुःखी होते हैं, फिर भी दुःख हर्ता हरि ही उनका वह दुःख मिटाते हैं ॥२॥

कारिका—**एकत्रिंशे सर्वभावान्निवृत्तानां तु पूर्ववत् ।**
गानेन रमणं चक्रे प्रमाणानन्दसिद्धये ॥३॥
बलभद्रेण सहितो वेदरूपेण सर्वथा ।
तद्दोषं नाशयामास हरिरित्युच्यते स्फुटम् ॥४॥

कारिकार्थ—इस इकतीसवें अध्याय में जब वे अन्य सर्व भावों से छुटकारा पाते हैं, तब पूर्व की भांति, प्रमाणानन्द[1] की सिद्धि के लिए वेदरूप, बलदेव जी के साथ, भगवान् उस सिद्धि में विघ्न रूप रहे हुए दोष को नाश करने के लिए गान पूर्वक रमण करने लगे, जिसका वर्णन यहां प्रकट कहा जाता है ॥३-४॥

टिप्पणीजी का सारः—इकत्तीसवें अध्याय का विवरणः—इससे पहले जिस लीला का वर्णन किया गया, उसके बाद तो कुतुहल वश भी व्रजवासियों का अन्य भजन करना उपपन्न नहीं होता, यह शंका उठ सकती है परन्तु यह प्रकरण पूर्व प्रकरण के बीच में आता ही नहीं है, पूर्व प्रकरण में रूप लीला का वर्णन था, यहां नामलीला का वर्णन किया जाता है। नामलीला से जो रस प्राप्त हो सकता है, वह अन्य भजन के त्याग के बिना नहीं हो सकता यह दिखलाना इस प्रकरण की संगति है। जैसे रूपलीला स्वतंत्र है, वैसे ही नामलीला भी स्वतंत्र है, अतएव एक भिन्न प्रकरण का ही प्रारंभ यहां से होता है। नामलीला के दो अंग हैं (१) अन्य भजन का त्याग और (२) भगवन्माहात्म्यज्ञान। अन्य भजन से छुड़ाकर जिन्हें भगवान् अपनी शरण में लेते हैं, यथा इन्द्र भजन छुडाने से स्पष्ट है, वे पुनः अन्य भजन करें तो दुःखी ही होंगे या भगवान् ही फिर उस दुःख से भी छुटकारा दिलाते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है, कि रूपलीला के रसानुभव में वैष्णव धर्मों का भी त्याग अंग बनता है, जब कि नामलीला के रसानुभव में केवल अन्य देवताओं के भजन को छोड़ना पड़ता है, न कि भगवद् धर्मों को भी। विधियां भी नामलीला के अन्तर्गत आती हैं, अतः मर्यादा एवं पुष्टि के प्रभेद

१—प्रमाण—वेद, वेद रूप बलदेवजी के आनन्द की

से दो तरह की होती हैं अतः मर्यादा मिश्रित पुष्टि मार्गियों का पूर्वाध्याय में उल्लेख है तथा शुद्ध-पुष्टि मार्गियों का द्वितीयाध्याय में। तथा मर्यादा मार्ग की सदोषता शंख चूड़ के प्रसंग में दिखलाई गई है।

आभास—शब्दतोऽप्यानन्दं निरूपयितुं प्रथमं गोकुलवासिनामन्यासक्तिं निवारयति **एकदेति विंशत्या।**

आभासार्थ—शब्द द्वारा आनन्द देने की लीला का वर्णन करने से प्रथम गोकुलवासियों में अब अन्य भजन रूप जो दोष है उसका निवारण, 'एकदा देवयात्रायां' श्लोक से २० श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।**
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥१॥

श्लोकार्थ—एक दिन देवयात्रा में कुतुहल वश वे ग्वाल बैलों से जुड़े हुए गाड़ों में बैठकर अम्बिकावन की ओर चल निकले ॥१॥

सुबोधिनी—लोकन्यायेनाप्यन्यत्र गमनेऽनिष्टं भवतीति तेषां यात्राप्रसङ्गो निरूप्यते। **एकदा** शिवरात्रि समये। प्रतिवर्षं न गच्छन्तीत्येकदेत्युक्तम्। देवयात्रा हि नित्या। गोपालाश्च साधारणधर्म एवाभियुक्ता इति। तत्रापि धर्मबुद्धिः प्रासङ्गिकी। वस्तुतस्तु जातकौतुकाः। अत एव न पद्भ्यां गमनम्, किन्त्वनोभिः शकटैः। तत्रापि नाश्वयोजनम्, किन्तु अनडुद्युक्तैः प्रकर्षेण ययुः। महता समारम्भेण गृहे पुरुषानभिनिवेश्य। अम्बिकालयं मथुरातः पश्चिमे देशे अर्बुदाचलनिकटे स्थितं तीर्थविशेषं ययुः ॥१॥

व्याख्यार्थ—दुनियाँ में भी (घर छोड़कर) अन्यत्र जाने पर सारी कठिनाईयां आ पड़ती हैं अतः उनके यात्रा प्रसंग का निरूपण करते हैं।

शिवरात्री के अवसर पर एक दिन वे अम्बिका वन की ओर चल निकले। वे हर साल नहीं जाते थे अतः 'एक दिन' कहा। देवयात्रा + तो नित्यकर्म है। परन्तु, गोपालों का संबन्ध तो साधारण धर्म ※ से रहता है और उसमें भी उनकी धर्मबुद्धि प्रसंगोपात्त ही होती है। वस्तुतः तो वे कुतुहल वश ही जा रहे थे, अतएव पैदल न जाकर गाड़ियों में गए। घोड़ों का तो उन्हें कुछ काम ही नहीं था किन्तु बैलों का अवश्य था सो उन्हें जोतकर जोरशोर से चल निकले। बड़े समारंभ के साथ पुरुषों को घर में नियुक्त कर चले। अंबिकालय मथुरा से पश्चिम में अर्बुदाचल के निकट एक तीर्थ है वहीं पहूँचे ॥१॥

+**लेख का आशयः**—देवयात्रा तो नित्यकर्म है, अर्थात् किसी भी कामना के बिना करते ही रहना चाहिए। भक्ति मार्ग में अन्याश्रय त्याग तो प्रथम कर्तव्य है, फिर चाहे वह नित्य कर्म के अन्तर्गत करना पड़ता हो, अथवा काम्य कर्म के। परन्तु गोपों को लगा, कि नित्यकर्म होने के कारण अन्या-

श्रय भी हो, तो दोष रूप नहीं होता अर्थात् ऐसे केवल काम्य-कर्म का ही त्याग होता है न कि नित्य-कर्म का। वस्तुतः तो नित्यकर्म में भी अन्याश्रय होता हो तो छोड़ना ही चाहिए कम से कम शरण मार्गियों को तो अवश्य। वेद के मंत्रों में जो इतर देव आते हैं वे तो "देवानारायणांगजा" वचन के अनुसार भगवान् के अंग हैं। वेदोक्त कर्म भी भगवान् की क्रिया शक्ति का एक रूप है। अतः काम्य कर्म वैदिक छोड़ देना चाहिए। स्मृति प्रोक्त अन्य देवों से संबंधित कर्म चाहे नित्य अथवा काम्य दोनों छोड़ देने चाहिए। श्राद्ध, तीर्थ स्नान, दान इत्यादि "विष्णु प्रीयतां" के संकल्प के साथ करने चाहिए। जिन कर्मों में यह संकल्प न हो पाए, वे सारे कर्म शरण मार्गीय जीव को छोड़ देने चाहिए।

※ यह प्रकरण गोपिकाओं का है फिर भी गोपों का निरूपण, धर्मतः जो समान प्रसंग बनता है उसके आधार पर किया गया है। गोपों का संबन्ध मुख्य स्वामिनियों की तरह असाधारण प्रमेय धर्म के साथ नहीं है किन्तु साधारण प्रमाण धर्म के साथ है अतः निरूपण किया है।

आभास—तत्र गतानां पूजाप्रकारमाह **तत्र स्नात्वेति**।

आभासार्थ—वहां गए हुए गोपों ने जिस प्रकार पूजा की उसका वर्णन 'तत्र स्नात्वा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम्।**
आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! वहां सरस्वती नदी में स्नान कर पशुपति महादेव और अम्बिका माता की पूजा के द्रव्यों[1] से श्रद्धापूर्वक पूजा की ॥२॥

सुबोधिनी—सरस्वती तत्र प्रादुर्भूता। अतः स्नात्वा पशुपाशविमोक्षणार्थम्। स्वयं पशुपालका इति पशूनामधिपतिं पशुपालने फलदातारं प्रभुं सर्वदानसमर्थमर्हणैः पूजाद्रव्यैरानर्चुः। न तु पामरवद् गमनमात्रम्। देवीं च अम्बिकां पार्वतीमानर्चुः। चकारात्तदावरणदेवताः। नृपते इति सम्बोधनं यात्रायां तथाकरणे परिज्ञानाद्विश्वासार्थम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—वहां सरस्वती प्रकट हुई है। पशु के पाश से मुक्त होने के लिए उसने प्रथम स्नान किया। अनन्तर गोप स्वयं पशुपालक हैं इसलिए पशुपति जो कि पशु पालने का फल देने वाले हैं और प्रभु होने से सर्व प्रकार के दान देने में समर्थ हैं, उनकी पूजा के द्रव्यों से पूजा की। पूजन करने से यह बताया, कि हम यहां मूर्खों की भांति नहीं आए हैं किन्तु शास्त्र में कही हुई विधि के पालनार्थ भी आए हैं। अम्बिका देवी, पार्वतीजी, का भी पूजन किया। श्लोक में 'च' शब्द दिया है जिसका आशय है कि पार्वती देवी के आस पास जो अन्य देवता थीं उनकी भी पूजा की। परीक्षित को हे राजन्! संबोधन इसलिए दिया है, कि परीक्षित को सावधान करते हैं कि तुम राजा हो तुम्हें इसका ज्ञान तो पूर्व ही है, किन्तु इस चरित्र के सुनने से, उसमें दृढ विश्वास करना ॥२॥

१—सामग्रि या वस्तुओं

आभास—पूजामुक्त्वा दानान्यप्याह **गाव** इति ।

आभासार्थ—ऊपर के श्लोक में पूजा का वर्णन कर अब 'गावो हिरण्यं' श्लोक में दानों का वर्णन करते हैं—

श्लोक —**गावो हिरण्यं वासांसि मधुमध्वन्नमाहृताः ।**
ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥३॥

श्लोकार्थ—गौ, सुवर्ण, वस्त्र, मधु[1] और मीठा अन्न आदर सहित ब्राह्मणों को दान कर दिए, सङ्कल्प में कहा कि इस दान करने से देव प्रसन्न हों ॥३॥

सुबोधिनी—सर्वकाम्यान्येतानि दानानि । हिरण्यं सुवर्णम् । वासांसि नानाविधानि । मधु च मध्वन्नं च । ग्राम्यारण्ययोः सिद्धचर्थं मधुमध्वन्नयोर्दानम् । गोभिः रुद्रः प्रीतो भवति । हिरण्येनाग्निः । सोऽपि रुद्र एव । वासांसि सर्वदैवत्यानि सोमदैवत्यानि च । उमया सहितः सोऽपि तेन प्रीतो भवति । एवं पञ्च दानानि आहृता एव चक्रुः । पात्रसम्पत्तिमाह **ब्राह्मणेभ्य** इति । सर्व इति सङ्गदोषोऽपि व्यावर्तितः । कामनां च व्यावर्तयति **देवो नः प्रीयतामिति** । **देवो** महादेवः । अथवा । य एव देव इति साधारणं वचनम् । नोऽस्माकं प्रीतो भवत्विति, न त्वन्या काचित् कामना ॥३॥

व्याख्यार्थ—गोपों ने जो दान किए हैं, वे काम्य दान हैं, सोना, अनेक प्रकार के कपड़े, शहद और मीठे अन्न का दान किया, ग्राम्य एवं अरण्य की सिद्धि के लिए शहद एवं मिष्टान्न का दान किया, गौदान से रुद्र प्रसन्न होते हैं । सुवर्ण दान से अग्नि देवता प्रसन्न होते हैं । वह भी रुद्र ही हैं । वस्त्र दान सर्व देव अथवा सोम के लिए है । वे देव अकेले प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु उमा के साथ प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार पांच दान आदर पूर्वक किए । जो दान किया वह पात्रों को दिया इसलिए श्लोक में 'ब्राह्मणेभ्यः' कहा है । श्लोक में 'सर्वे' कहकर यह बताया है, कि गोपालों को सङ्ग दोष भी नहीं लगा, कारण, कि गोपों में कोई गोप वैसा नहीं था, जिसने दान न किया हो । श्लोक में 'देवो नः प्रीयतां' कहकर यह बताया कि गोपों के मन में किसी प्रकार की कामना नहीं थी, इसलिए अन्त में सङ्कल्प किया कि इस दान से देव प्रसन्न हों । देव अर्थात् 'महादेव', अथवा जो भी देव हो (यों साधारण वचन कहा है) वह हम पर प्रसन्न हो । देव के प्रसन्नता के सिवाय गोपों को अन्य कोई कामना नहीं थी ॥३॥

आभास—एवं यात्रायां कृत्यमुक्त्वा नियमेन तीर्थस्थितिमाह **ऊषुरिति**

आभासार्थ—इस प्रकार यात्रा[2] में जो कृत्य करना था वह कहकर अब 'ऊषुः' इस श्लोक में तीर्थ में की हुई स्थिति का वर्णन करते हैं ।

१—शहद, २—तीर्थपर,

श्लोक— **ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।**
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ।।४।।

श्लोकार्थ— महाभाग्यवान् नन्द सुनन्द आदि गोप व्रत धारण कर केवल जल-पान कर वह रात्रि उस तीर पर रहे ।।४।।

सुबोधिनी—सरस्वतीतीर एव अन्तःशुद्धचर्थं जलमेव प्राश्य तां रजनीमूषुः । न तु रजन्यां किञ्चित् कृतमिति । एतावान् धर्मः सिद्धः । अग्रिमानिष्टं निवर्तिष्यत इति महाभागा इत्यनेन द्योतितं श्रोतुः सन्देहाभावाय । नन्दः सुनन्दकश्च प्रधानभूतौ येषाम् । नन्द इति प्रधाननाम्ना वा सर्वे व्यपदिष्टाः । सुनन्दक आदिर्येषामिति सर्वेषामेव नन्दतुल्यता । भगवत्सम्बन्धादत्यानन्दयुक्तः सुनन्दको भवति । उपनन्दोऽन्यो वा । नन्द एव वा धर्मप्राधान्येन गृहीतः ।।४।।

व्याख्यार्थ—अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जल पान कर वह रात्रि सरस्वती के किनारे पर रहे । रात्रि में किसी प्रकार का कोई अन्य कार्य नहीं किया । इतना धर्म[1] तो सिद्ध हो गया । गोपों को श्लोक में 'महाभागाः' विशेषण इसलिए दिया है, कि आगे, जो इनका अनिष्ट होने वाला है, उसकी निवृत्ति भगवान् स्वयं कृपा कर करेंगे जिससे श्रोताओं को संदेह न हो । गोपों में नन्द और सुनन्द मुख्य थे । नन्द प्रधान है, जिसके नाम लेने से सब गोप आ गए । सुनन्दक आदि जिनको यों कहने से सर्व गोपों की नन्द से समानता बताई है । सुनन्दक पद का भावार्थ यह है कि जिससे भगवान् का सम्बन्ध होता है, वह विशेष आनन्दवाला होता है उसको सुनन्दक कहा जाता है, उपनंन्द दूसरे गोप का नाम है, अथवा धर्म प्राधान्य से नन्द का ही इस प्रकार वर्णन किया है ।।४।।

आभास—एवं सर्वतो धर्मसम्पत्तियुक्तानां भगवद्भावे तिरोभूते निरोधस्य वक्तव्यात् शकटाक्षेपवत् सर्पेण नन्दग्रासमपि भगवान् कारितवानित्याह **कश्चिदिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब कर्म निष्ठ गोपों में से भगवद्भाव तिरोहित हो गया किन्तु भगवान् को उनका निरोध करना था अतः भगवान् ने कृपा कर, शकट गिराकर यशोदा आदि का मन अपनी तरफ खेंच लिया था, वैसे ही यहां भी गोपों का निरोध करने के लिए भगवान् ने नंद को सर्प से ग्रसाने की लीला की, जिसका वर्णन 'कश्चिन्महानहि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः ।**
यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ।।५।।

श्लोकार्थ—बहुत भूखा महान् अजगर उस वन में अचानक आ गया, उसने सोए हुए नन्द को ग्रस लिया ।।५।।

१—उपवास

सुबोधिनी—महानहिरजगरः। स हि क्षुधित एव तिष्ठति। कदाचिदेवान्नं प्राप्नोति। तत्र दैवगत्या तस्मिन् विपिने आहाराभावाद् अति-बुभुक्षितो जातः। यदृच्छयाकस्मिकविधिना तेन नन्दः प्राप्तः। यदृच्छयैव नन्दसमीपमागतः। नन्दोऽपि दैवगत्या निद्राणो जातः। वस्तुतस्तु जाग्रता स्थातव्यम्। अतः शयानं नन्दं मुख्यमेव। **उरगः** आगमने ज्ञातुमशक्यः। **अग्रसीत्** जग्रास ।५।

व्याख्यार्थ—बड़ासांप अर्थात् अजगर, उसको भोजन कभी कभी मिलता है प्रायः वह भूखा ही रहता है। वन में भोजन न मिलने से उस बहुत भूखे अजगर को, भोजन के लिए नन्द मिले, अकस्मात् ही वह नन्दीजी के समीप भी आ गया। दैवगति से नन्दजी भी उस समय निद्रा में थे। वन में जो जागते रहना चाहिए यों न करने से, सोये हुए गोपों में मुख्य, नन्दजी को ही ग्रस लिया। पेट के बल सरकनेवाले का आगमन जाना नहीं जा सकता ।।५।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **स चुक्रोशेति**।

आभासार्थ—नन्द के ग्रस जाने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'स चुक्रोश' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम्।**
सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ।।६।।

श्लोकार्थ—अजगर से ग्रसित नन्दजी ने क्रन्दन किया, अनंतर श्रीकृष्ण को प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण, हे कृष्ण ! यह बड़ा सांप मुझे ग्रस रहा है, हे तात ! मैं आपकी शरण हूं, शरणागत मुझे बचाइए ।।६।।

सुबोधिनी—कण्ठादधोभागेऽहिना ग्रस्तः। पूर्वं केवलं चुक्रोश। पश्चान्माहात्म्यं स्मृत्वा 'कृष्ण कृष्णे' त्यादरेण भयाद्वा सम्बोधनं कृत्वा, स्वानिष्टं निवेदयति **महानयं सर्पो मां ग्रसत** इति। **तातेति** सम्बोधनं स्नेहाद्वैक्लव्यात्। परि-मोचने हेतुं वदन्नेव प्रार्थयते **प्रपन्नं परिमो-चयेति** ।।६।।

व्याख्यार्थ—अजगर ने नन्दजी का कंठ से नीचे का भाग अब तक ग्रस लिया था, अतः प्रथम तो केवल क्रन्दन किया, पश्चात् कृष्ण का माहात्म्य स्मरण कर कृष्ण को प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! यह महान् सांप मुझे ग्रस रहा है। आदर से पुकारने अथवा भय से पुकारने में 'कृष्ण' शब्द संबोधन में दिया हैं, और 'तात' शब्द का संबोधन 'स्नेह' अथवा घबराहट प्रकट करने के लिए दिया गया है, छुड़ाने का कारण बताते हैं, कि मैं आपकी शरण आया हूँ अतः मुझे छुड़ाइए ।।६।।

आभास—ततो भगवन्मोचनात् पूर्वमेव अन्ये गोपालाः प्रतिक्रियार्थमुद्यता जाता इत्याह **तस्य चेति**।

आभासार्थ—इस श्लोक में कहते हैं कि भगवान् छुड़ावें, जिससे पहले गोपालों ने छुड़ाने का उद्यम किया।

श्लोक—तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः।
ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विध्यधुरुल्मुकैः ॥७॥

श्लोकार्थ—उसका आक्रन्दन सुनकर, विना विचारे सहसा गोपाल उठ खड़े हुए नन्द को ग्रसा हुआ देख घबरा गए और जलती हुई लकड़ियों से सर्प को मारने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—नन्दस्य विज्ञतां बोधयितुमन्येषामविज्ञतां च प्रार्थनाप्रतिक्रिययोर्निरूपणम्। तस्य नन्दस्य आक्रन्दितं श्रुत्वा। सहसैव विचारमकृत्वैव भगवन्तमपृष्ट्वैव स्वयमेवोत्थिताः। नन्दं च ग्रस्तं दृष्ट्वा विशेषेण भ्रान्ताः सन्तः शीतार्थं ज्वालितैरुल्मुकैः सर्पं विध्यधुः। अनेनोपायेन नन्दोऽपि म्रियेत, तथाप्यज्ञानाद्भगवति विद्यमाने यात्रावदिदमपि कृतवन्तः ॥७॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी ने छठे श्लोक में अपनी रक्षा के लिए भगवान् की प्रार्थना की है, क्योंकि, वे भगवान् के माहात्म्य को जानते थे, किन्तु गोप उनके महात्म्य को नहीं जानते हैं, इसीलिए उन्होंने नन्दजी को बचाने के लिए प्रतिक्रिया की, जिसका वर्णन इस ७ वें श्लोक में करते हैं।

गोप नन्द का आक्रन्दन सुनकर, विना विचारे तथा भगवान् से पूछे विना उठे। नन्दजी को साँप से ग्रसित देख घबरा गए। शीत के लिए जलाई हुई आग से जलती हुई लकड़ियों को उठाकर सर्प को जलाकर मारने लगे, किन्तु यह विचार नहीं किया कि इस उपाय से तो नन्द भी जल जायेंगे, जिससे गोपों की अज्ञानता प्रकट बताई है। गोपों ने जैसे अज्ञान से यात्रा की है, वैसे ही भगवान् जैसे सर्व समर्थ के विद्यमान होते हुए, यह कार्य भी अज्ञान से किया ॥७॥

आभास—तथाप्यनुपायत्वान्न फलितमित्याह अलातैरिति

आभासार्थ—नन्द को सर्प से छुड़ाने का यह उपाय नहीं था इसलिए वह व्यर्थ हुआ जिसका वर्णन 'अलातैः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥८॥

श्लोकार्थ—जलती हुई लकड़ियों से जलते हुए भी साँप ने नन्दजी को नहीं छोड़ा, तब वैष्णवों के पति भगवान् ने आकर पैर से उसका स्पर्श किया ॥८॥

सुबोधिनी—स हि भक्षयितुमेव जानाति, न त्यक्तुम्, अतो नामुञ्चत्। ततो यदुचितं तमुपायं भगवान् कृतवानित्याह **तमस्पृशदिति**। स्वयमभ्येत्य पदा तमस्पृशत्। तस्य हि **कर्मक्षयः**

कर्तव्यः। स ज्ञानेन भक्त्या वा। ज्ञाने त्वधिकारिशरीरमपेक्ष्यते। भक्तिरप्यत्र **प्रमेयलभ्यैव**। अतस्तस्य भक्तिसिद्धयर्थं भगवदीयशरीरप्राप्त्यर्थं पदा अस्पृशत्। स्वयमागत्येति तस्यापि साधनापेक्षाभावाय। तस्य तथाकरणसामर्थ्यावश्यकत्वाय **सात्वतां पतिरिति**। वैष्णवानामयं पतिः। अतो वैष्णवहितार्थं तथा कृतवान् ॥८॥

व्याख्यार्थ—सांप को भक्षण करना (पकड़ना) आता है, छोड़ना नहीं आता है अतः छोड़ा नहीं। पश्चात् भगवान् ने जो योग्य था, वह उपाय किया। वह उपाय था भगवान् के चरण का स्पर्श, अतः भगवान् ने स्वयं आकर अपना चरण स्पर्श कराया, जिससे उसके कर्म नष्ट हुए तथा सर्प योनि से वह मुक्त हो गया। कर्मक्षय तो ज्ञान अथवा भक्ति से होते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिकारी शरीर की आवश्यकता होती है, सांप का शरीर ज्ञान अधिकारी नहीं इसलिए वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है, भक्ति की प्राप्ति भी यहां प्रमेय बल से ही हुई है, जैसा कि भगवान् ने अपने प्रमेय बल से उसकी भक्ति की सिद्धी के लिए और भगवदीय शरीर की प्राप्ति के लिए चरण से उसका स्पर्श किया। भगवान् ने उसके साधनों की अपेक्षा नहीं की, स्वयं आकर चरण स्पर्श से उसके कर्म क्षय किए, 'सात्वतां पतिः' पद से यह बताया है कि भगवान् में यों करने की सामर्थ्य है, भगवान् वैष्णवों के रक्षक हैं अतः वैष्णव हित के लिए वैसा किया ॥८॥

लेखकार का आशय–भगवान् के चरण में उत्तम देह करने का सामर्थ्य है, आप वैष्णवों के पति हैं अतः आपको उसकी उत्तम देह बनाना आवश्यक था—

आभास—**ततो यज्जातं तदाह स वा इति**।

आभासार्थ—चरण स्पर्श जो हुआ, उसका वर्णन 'स वै' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्षहताशुभः।**
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥९॥

श्लोकार्थ—भगवान् के श्री वाले चरण स्पर्श से उसके सर्व अशुभों का नाश हो गया, जिससे उसने सर्प शरीर का त्याग कर विद्याधरों से पूजित रूप को धारण किया ॥९॥

सुबोधिनी—**वै** निश्चयेन **स** सर्पवपुर्हित्वा विद्याधररूपं भेजे। परं पूर्वस्माद्विशिष्टम्, भगवदीयत्वात्। तदाह, विद्याधरैरर्चितमिति। विद्याधराणां देवरूपो जातः। सर्वापकृष्टा सर्पयोनिः। सर्वोत्तमा भगवदीया। एवं चरणप्रभावः। तस्य सर्वाधमस्य सर्वोत्तमत्वप्रापणे प्रमेयबलमेव हेतुरित्याह **भगवत** इति। देहमात्रे उपपत्तिरुक्ता। **तस्य लोके सर्वोत्तमत्वाय चरणं** विशिनष्टि **श्रीमत्पादेति**। तस्य स्पर्शेन हतमशुभं यस्य। सर्पवपुः परित्यागे पापनाशो हेतुः। गुणाधानेऽपि तत्स्प ॅ एव हेतुः। यथायोग्यं पदार्थाभिनिवेशः कर्तव्यः। चरणरज एव सामग्रीसम्पादकम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—निश्चय से उसने सांप का शरीर त्याग, विद्याधर का रूप धारण किया। वह रूप, पूर्व रूप से विशेष था कारण कि अब वह रूप चरण स्पर्श से भगवदीय हुआ है। पहले भगव-

दीय नहीं था, उसकी पुष्टि के लिए मूल श्लोक में इसको विद्याधरों से पूजित कहा है। विद्याधरों में (भी) देवरूप हुआ। सर्प योनि सब से नीच योनि है, भगवदीय योनि सबसे उत्तम योनि है। सबसे नीच योनि से छुडाकर सबसे उत्तम योनि देना यह चरण का प्रभाव है, जिसका[1] कारण भगवान् का प्रमेय बल है।

सभी तरह के देहों के बारे में (अर्थात् यथायोग अधमता से उत्तमता तक पहुँचने के बारे में) यही उपपत्ति है अथवा ये ही हेतु है। सांप की देह छूटने का कारण चरण स्पर्श से पापों का नाश होना है, और विद्याधरों के भी देव बन जाना यह गुण भी चरण स्पर्श से आया है। पदार्थों का अभिनिवेश यथा योग्य करना चाहिए, चरण रज ही सर्व प्रकार की सामग्री सिद्ध करती है ॥९॥

आभास—एवमुपकारमयुक्ते कृतवानिति शङ्कां वारयितुं तस्य भगवत्कृतोपकार-ज्ञानमप्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवांस्तं पृच्छतीत्याह **तमपृच्छदिति**।

आभासार्थ—भगवान् ने इस प्रकार का उपकार अयोग्य में कैसे किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए, यह बताते हैं, कि उसको भगवान् के किए हुए उपकार का ज्ञान भी है, जिसको प्रकट कराने के लिए भगवान् उससे पूछते हैं, जिसका वर्णन 'तमपृच्छद्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तमपृच्छद् हृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम्।
दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—सुवर्ण की माला वाले, देदीप्यमान शरीर वाले नम्रता पूर्वक सामने स्थित उस पुरुष से भगवान् ने पूछा ॥१०॥

सुबोधिनी—यद्यपि स्वयं तस्यान्तःकरणं सर्वमेव जानाति। यतो हृषीकेशः। तथापि **तत्र** शास्त्रीयं सामर्थ्यं स्थापयितुं परिभाषणपूर्वकं तस्यान्तःकरणं बोधयतीत्याह **हृषीकेश इति**। तथाकरणे हेतुः **प्रणतमिति**। तर्हि पूर्वं कथमन्यथाकृतवानित्याशङ्क्याह **समवस्थितमिति**। पूर्वं तु न सम्यगवस्थितः, इदानीं तु नम्रभावेन स्थित इति। आन्तरमप्यस्य स्वरूपं समीचीनमिति ज्ञापयितुं बहिःकान्तिं वर्णयति **दीप्यमानेन वपुषेति**। यथा भगवदीयस्य तेजोवच्छरीरं भवति, तथा दीप्यमानेन वपुषा उपलक्षितः। उत्कृष्टयोनावपि भगवदीयत्वेऽपि तरतमभावोऽस्तीति कदाचित्तिर्यगादिरूपं स्त्रीरूपं वा प्राप्नुयादिति शङ्कां वारयितुमाह **पुरुषमिति**। तत्रापि सर्वगुणपूर्णतां ज्ञापयितुमाह **हेममालिनमिति**। महानेवालङ्कृतो भवतीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि आप उसके सर्व अन्तःकरण को जानते हैं, कारण आप इन्द्रियों के ईश हैं, तो भी उसमें शास्त्रीय सामर्थ्य स्थापन करने के लिए, वचन द्वारा उसके अन्तःकरण को जगाते हैं, इसलिए आपको हृषीकेश कहा है। पहले यों अन्तःकरण को न जगाकर, अब क्यों जगाते हैं, जिसके उत्तर में कहते हैं कि पहले वह इस प्रकार नम्र होकर सम्यक् प्रकार से स्थिति नहीं था। इसका

१—चरण स्पर्श कराकर अधम योनि से उत्तम योनि प्राप्त कराने का

भीतरी स्वरूप भी सुन्दर है, यह जताने के लिए बाहर की कान्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि जैसे भगवदीय का शरीर तेजस्वी होता है, वैसा यह भी तेजस्वी दीखने लगा। उत्तम योनि में भी साधारण तथा विशेष भाव होते हैं अतः कदाचित् पशु पक्षी आदि का शरीर अथवा स्त्री योनि मिले, तो इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'पुरुषं' अर्थात् उसको पुरुष शरीर मिला है उस पुरुष शरीर में भी सर्व गुणों की पूर्णता दिखाने के लिए 'हेममालिनं' पद से कहा है, कि वह विशेष ही अलङ्कृत था, अर्थात् सर्व गुणों से सुशोभित था ॥१०॥

आभास—प्रश्नमाह **को भवानिति** ।

आभासार्थ—'को भवान्' इस श्लोक में भगवान् ने उससे उसके परिचय का प्रश्न किया है—

श्लोक—**को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः ।**
कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥११॥

श्लोकार्थ—उत्तम कान्ति से सुशोभित, अद्भुत दर्शन तूं कौन है ? और यह निन्दित योनि किसके वश होने से प्राप्त की है ॥११॥

सुबोधिनी—क इति जातिनाम्नोः प्रश्नः। स्वभावतोऽप्यमहतः सहसैव साधने न महत्वमापद्यत इति भगवानपि तं वर्णयति **परया लक्ष्म्या रोचते भवानिति** । किञ्च, देवादयः सर्व एव समागताः, बहुधा दृष्टाः, परं भवानद्भुतदर्शनः। अद्भुतं दर्शनं यस्येति । नैवंविधः कश्चित्तेजस्वी दृष्टपूर्व इत्यर्थः। इदं पूर्वपुण्यनिचयव्यतिरेकेण न भवति, तस्मिंश्च सति कथं जुगुप्सिता योनिरिति। अवश्यं केनचित् प्रापित इति शाप एव किञ्चित्कारणं भविष्यतीति तथोच्यते। तत्रापि वनं केन वा प्रापित इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—'कः' इस पद से उसकी जाति और नाम पूछे हैं अर्थात् तेरा नाम क्या है और तेरी जाति क्या है ? जो स्वभाव से भी महान् नहीं वह साधन से सहसा महान् नहीं बन सकता है। भगवान् भी उसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि परम कान्ति से तूं सुशोभित हो रहा है, और यहां देव आदि सब आए तथा बहुत प्रकार देखे, भी लेकिन तूं अद्भुत दर्शन है अर्थात् तेरे समान आगे कोई तेजस्वी नहीं देखा। इस इस प्रकार का तेजस्वी स्वरूप पुण्य समूह इकट्ठे होंने से ही प्राप्त होता है और पुण्यों के रहते हुए निन्दित योनि नहीं मिल सकती अतः अवश्य किसी न किसी शाप के कारण यह गति हुई है और यहां बन में किसने भेजा है यह ज्ञातव्य है ॥११॥

आभास—अयं पूर्वमपि सर्प एव स्थितः। भगवत्कृपया विद्याधरत्वं प्राप्त इति। पुनः सर्प एवायं जातः अतः **सर्प उवाचेति**। स्वस्य पूर्ववृत्तान्तमाह **अहमिति श्लोकद्वयेन।**

आभासार्थ—यह पहले भी सांप था, भगवत्कृपा से विद्याधर बना, यह फिर सांप ही हो गया, अतः 'सर्प उवाच' कहा है अर्थात् सांप अपनी आगे की जीवनी निम्न दो श्लोकों से कहने लगा—

श्लोक–सर्प उवाच—**अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः ।**
श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन् दिशः ॥१२॥
ऋषीन् विरूपानाङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः ।
तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥

श्लोकार्थ—सर्प कहने लगा कि, मैं सुदर्शन नाम से प्रसिद्ध कोई विद्याधर था, मेरा रूप सुन्दर था और मेरे पास धन आदि भी था जिससे विमान में बैठ दिशा में घूम रहा था, वहाँ मैंने कुरूप आंगिरस ऋषियों को देख, अपने सुन्दर रूप से गर्वित मैंने उनकी हंसी (मजाक) उड़ाई, मजाक से क्षुब्ध उन ऋषियों द्वारा इस योनि को प्राप्त हुआ हूँ, यह मेरे पापों का ही फल है ॥ १२–१३ ॥

सुबोधिनी—विद्याधरा देवविशेषाः । कश्चिदित्य प्रसिद्धः । **सुदर्शन** इति **विश्रुतः प्रसिद्धः** । अनेनैव वैष्णवनाम्ना अग्रे भगवत्कृपा जातेति ज्ञापयितुं विश्रुतत्वकथनम् । तस्य देहकान्तिः धनं अद्भुत-सामर्थ्यं चेति पूर्वमपि गुणत्रयं स्थितमित्याह **श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेने**ति । दिशः दश आसमन्ताच्चरन् । सर्वत्राप्यप्रतिहतगतिः । एवं स्वरूपमुक्त्वा अपराधफले निरूपयति ऋषीनिति । अङ्गिरसगोत्रे उत्पन्ना ऋषयः अष्टावक्रवद् विरूपाःस्थिताः । स्वयं तु रूपेण दर्पितः प्राहसम् । यथा बालः प्राकृतो हसति । पश्चात् तच्छापेन इमां सर्पयोनिं प्राप्तः । सर्पयोनिप्राप्तौ विशेषहेतुमाह **प्रलब्धैरिति** । प्रलब्धा वक्रोक्त्या वञ्चिताः उद्वेजिताः । स्वरूपतो निष्कारणमुद्वेजकः सर्प एव भवति । अत इमां योनिं प्राप्त इति । नन्वल्पेऽपराधे कथं महान् दण्डस्तैः कृत इत्याशङ्क्याह **स्वेन पाप्मने**ति । पूर्वं हि ब्रह्मवृत्तिरपहृता । अतस्तेन भाव्यमेव ऋषिभिः केवलं प्रकटितमित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—विद्याधर एक प्रकार की देव योनि है उस योनि में यह अप्रसिद्ध कोई विद्याधर था । सुदर्शन नाम से सर्वत्र पहचाना जाता था, जिस नाम से इसकी प्रसिद्धि थी वह[1] नाम वैष्णव था, इस कारण से ही, आगे भगवत्कृपा हुई । इसमें देह की कान्ति[2] धन और अद्भुत सामर्थ्य ये तीन गुण पहले भी थे जिसका वर्णन श्लोक में 'श्रिया'[3] 'स्वरूपसम्पत्त्या'[4] और 'विमानेन'[5] इन तीन पदों से किया है । दश दिशाओं में घूमने से उसकी गति भी बिना रुकावट वाली बताई है । इस प्रकार स्वरूप कहकर अब किया हुआ अपराध और उसके फल का वर्णन करता है । अङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न ऋषि अष्टावक्र के समान कुरूप थे, मैं स्वयं सुन्दर रूप होने से अभिमानी था अतः उन पर हंसा जैसे प्राकृत बालक हसता है । पश्चात् उनके शाप से इस सर्प योनि को प्राप्त हुआ । सर्प योनि को प्राप्ति का कारण, ऋषियों का मेरे हंसने से एवं विशेषतः वक्रोक्तियों से क्षुब्ध होना है । बिना कारण अपने स्वरूप मात्र से लोगों को उद्विग्न कर देने वाला सर्प ही होता है । अतः बिना कारण ऋषियों को क्षोभित करने का फल इस सर्प योनि की प्राप्ति है । इस स्वल्प अपराध का इतना महान् दण्ड क्यों दिया ? जिसके उत्तर में कहता है, कि मेरे पाप से महान्

१—सुदर्शन, २–तेज, ३–इससे धन, ४–इससे देह की कान्ति, ५–इससे अद्भुत सामर्थ्य

दण्ड मिला है, मैंने पूर्व जन्म में ब्राह्मण की वृत्ति का अपहरण किया था, उसका फल होने वाला ही था केवल ऋषियों ने प्रकट किया है ॥ १२-१३ ॥

आभास—एवमपराधशापौ निरूप्य तस्य वैष्णवत्वसिद्धयर्थं निर्मत्सरतामाह **शापो म** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपराध और शाप का निरूपण कर, वह वैष्णव था जिसको सिद्ध करने के लिए, उसकी निर्मत्सरता+निम्न श्लोक 'शापो मे' से बताते हैं—

श्लोक—**शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।**
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥

श्लोकार्थ—उन दयावानों ने, भगवान् का इस पर अनुग्रह हो, इसलिए ही मुझे शाप दिया है, जिस शाप के कारण, लोक गुरु के चरण से मैं छूआ गया जिससे मेरे पाप नष्ट हुए ॥१४॥

सुबोधिनी—पूर्व विद्याधरत्वेन कदापि मुक्तिः स्यात्, अतोऽयं शापोऽनुग्रहार्थ एव । यद्यपि लोकेऽनिष्टरूपः, तथापि मेऽनुग्रहार्थ एव जातः । यतस्ते करुणावन्तः नहि करुणावतां शापोऽन्यथा भवति । तत्रापि प्रसिद्धानाम् । तदाह **तैः करुणात्मभिरिति** । तस्यानुग्रहरूपत्वमाह **यदहं लोकगुरुणेति** । ननु शापः पूर्वसिद्धः, स दोषात्मक एव, तेन कथमिष्टसिद्धिः, तत्राह **कृत** इति । अयं शापः तैरेवापूर्वं कृतः । भगवद्दर्शनं ऋषीणामनुग्रहाद् भवति, तदत्र शापादेव जातमिति तस्यानुग्रहत्वम् । किञ्च, **लोकगुरुणा** त्रैलोक्यस्यैव ज्ञानोपदेशकर्त्रा पादेन स्पृष्ट इति । गुरुसेवया हि ज्ञानं सिध्यति । सा सेवा तदा पुष्टा भवतीति निश्चीयते, यदि स्वयं पदा स्पृशति गुरुः । अतिविश्वस्तं प्रीतिमन्तमेव स्वयं पदा स्पृशति । तेनैवापराधः पूर्वपापमपि गतमित्याह **हताशुभ** इति । हतमशुभं यस्य ॥१४॥

व्याख्यार्थ—विद्याधर योनि से न जाने कब मुक्ति मिलती ? अतः यह शाप कृपा के लिए ही है, यद्यपि लोक में अनिष्ट रूप है, तो भी मेरे अनुग्रहार्थ ही हुआ है, कारण कि वे दयावान हैं, दयावानों का शाप अनुग्रह के सिवाय अन्य (दुःख आदि देने) के लिए नहीं होता है । वे शाप देनेवाले साधारण नहीं थे, किन्तु प्रसिद्ध अंगिरस कुल में उत्पन्न होने से कृपायुक्त गुण वाले थे, उनका वह शाप अनुग्रह रूप फलदाता हुआ है, जैसे कि लोक गुरु ने स्वचरण स्पर्श कराकर मेरे पाप नाश किए ।

दोष रूप शाप से, इष्ट फल की सिद्धि कैसे हुई ? जिसके उत्तर में कहता है कि उन दयालुओं ने ही शाप को अपूर्व प्रकार का किया है अर्थात् शाप सदैव अनिष्ट करता है, किन्तु यह शाप इष्ट

+ वैष्णव का गुण निर्मत्सरता है, अतः वैष्णवों को निर्मत्सर होना चाहिए— अनुवादक

करेगा वैसी अद्भुतता इसमें धर दी है, जिससे भगवान् के दर्शन हुए, जो भगवान् के दर्शन ऋषियों के अनुग्रह से होते हैं वे शाप से हुए हैं, यह ही उनका अनुग्रह है। तीन लोकों के ज्ञानोपदेशक गुरु के चरण स्पर्श हुए। गुरु सेवा से ही ज्ञान सिद्ध होता है। वह सेवा तब पुष्ट होती है जब गुरु स्वयं चरण से स्पर्श करते हैं। जो दृढ विश्वास वाला तथा अति प्रेमी होता है, उसको ही गुरु स्वयं चरण से स्पर्श करते हैं। 'हताशुभ' पद से कहता है कि गुरु के चरण स्पर्श से ही अपराध[1] तथा पूर्व जन्म कृत पाप[2] दोनों नष्ट हो गए ॥१४॥

आभास—एवं भगवच्चरणस्पर्शाभिनन्दनं कृत्वा, तेनैव जातं फलं प्रार्थनामिषेण कीर्तयति **तं त्वाहमिति सार्धैस्त्रिभिः**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवच्चरण के स्पर्श की प्रशंसा कर, उससे ही मिले हुए फल का प्रार्थना के मिष से निम्न साढे तीन श्लोकों से सर्प वर्णन करता है—

श्लोक—**तं त्वहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम्।**
आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ॥१५॥
प्रसन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते।
अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥
ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च ॥१७॥
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते।

श्लोकार्थ—संसार से डर कर शरण आए हुए जनों के भय को मिटानेवाले उन आपके पाद स्पर्श से पाप मुक्त हुआ मैं, हे पापनाशक! आप से सम्भाषण करता हूँ ॥१५॥

हे महायोगी! हे महापुरुष! हे सत्पते! मैं आपकी शरण हूँ, हे सर्व लोकेश्वरों के ईश्वर! हे देव मुझे आज्ञा दीजिए ॥१६॥

हे अच्युत! आपके दर्शन से मैं अभी ब्राह्मणों के शाप से छूटा हूँ, जो मनुष्य आपका नाम लेता है, वह अपने को और जिनको सुनाता है, उन सुनने वालों को भी उसी समय पवित्र करता है, फिर उस आपके चरण से स्पृष्ट हुआ मैं पवित्र हो जाऊं, जिसमें कहना ही क्या है? ॥१७॥

१—आङ्गिरसों पर हंसना, २—ब्राह्मण वृत्ति का अपहरण,

सुबोधिनी—आदौ फलानुज्ञां प्रार्थयति । तं सर्वफलदातारम् । तुशब्देन कर्मणापि फलमित्यादिपक्षं व्यावर्तयति **तं त्विति** । त्वा त्वां वा । पूर्वार्थे आङ्मध्ये । आसमन्ताद् भवभीतानामिति । ये केचन दुर्लङ्घ्यादपि संसाराद् भीताः, तेषामपि भवान् भयं दूरीकरोति प्रपत्तिमात्रेणैव । भगवत्सेवार्थं हि संसारे उत्पाद्यन्ते ते सर्वे संसारगतमायया विपरीता एव भवन्ति । तथापि 'कृष्ण तवास्मी'त्युक्तः सर्वमेव भयं दूरीकरोति । अतोऽस्माकमपि । वयं सापराधाः, नन्दस्य ग्रासं कृतवन्तः । किं करिष्यतीति शङ्का निवर्तिता । अत **आपृच्छे** आसमन्तात् पृच्छामि सम्भाषणं करोमि । मध्ये समागतोऽप्युपद्रवो नष्ट इति । आगन्तुकोऽपि दोषो नास्ति, तदाह **शापनिर्मुक्त** इति । पादस्पर्शादित्युभयत्र हेतुः । तथापि सहजपापस्य विद्यमानत्वात् कथं सम्भाषणयोग्यतेत्याशङ्क्याह **अमीवहन्निति** । अमीवं पापं हन्तीति । तथाप्यन्यप्रेरणया दण्डं मा कुर्यादिति भीतः सन्, शीघ्रं गमनं प्रार्थयन्, पुनर्विज्ञापयति **प्रपन्नोऽस्मीति** । पुनः शरणागतः । शरणागतस्य सर्वे अपराधा निवृत्ता भवन्तीति : **महायोगिन्निति** तव नैते पित्रादयः, किन्त्वतियोगेन तथा विडम्बयसीति । केऽपि त्वां न जानन्तीति ज्ञापयितुं महायोगित्वमुक्तम् । किञ्च, अल्प एव क्षुद्रस्यापराधं मन्यते । त्वं तु महापुरुषः । किञ्च, सतां पतिः । सन्तो हि तितक्षवः । तेषां पतिः सुतराम्, अतः सर्वप्रकारेण मदपराधसहनं युक्तमिति भावः । अत एव **मामनुजानीहि** । सेवकत्वेन जानीहि । **देवेति** सम्बोधनाद् वयोनिविद्याधरपक्षपातो युक्तो, न तु मानुषपक्षपात इति । ननु मदनुज्ञापितोऽपि कथं यमादिभिर्न पीडितो भविष्यसि, कालादयो हि मद्भक्तापराधे दण्डं करिष्यन्त्येवेति चेत्, तत्राह । सर्वलोकानां ये ईश्वराः, तेषामपि त्वमीश्वर इति । अतस्त्वत्कृपायां जातायां न कापि चिन्ता भविष्यतीति भावः । नन्वहमुदासीनः सर्वत्र, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय' इति, अतो निषिद्धाचरणे कालादयो बाधका एवेति चेत्, तत्राह **ब्रह्मदण्डादिति** । भवद्दर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमोक्षः प्रत्यक्षसिद्धः । यद्यपि त्वमुदासीनः, तथापि त्वद्धर्मा नोदासीनाः । अन्यथा ते दर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमोक्षो न स्यात् । तत्रापि सद्यः । तत्रापि दर्शनादेव । **अच्युते**ति सम्बोधनान्न भगवद्धर्माणां कादाचित्कत्वम् । तेन ये निवर्तिताः, ते निवर्तिता एव । ननु यावदुपयोगमेव निवर्ततां, कथं सर्वानिष्टनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राह **यन्नामेति** । मम सर्वपापनिवृत्तौ न सन्देहः । यस्य नामग्रहणमात्रेणैव श्रोत्रुनात्मानं च निष्पापान् करोति । तत्रापि नाधिकारिविशेषः, किन्तु सर्वानेव । **एवे**त्यनेन आत्मशब्दः जीवपरो ज्ञायते । न केवलं दैहिका दोषा निवर्तन्ते, किन्त्वज्ञानप्रभृति सर्वमेव निवर्तते । चकारात् श्रोत्रुणामपि तथा समुच्चयार्थः । सद्यः शुद्धिरिति शुद्धिहेतूनां देशादीनां निरपेक्षतामाह । तत्रापि भूयो वारंवारमुच्चारयन् पुनातीति किं वक्तव्यम् । यत्र नाम्न एवैतादृशं माहात्म्यम्, तस्य स्वरूपमाहात्म्यं किं वक्तव्यमित्याह **तस्य पदा स्पृष्ट** इति । पादस्पर्शः सुतरां दुर्लभः । तत्रापि भगवत्कर्तृकः । तत्रापि चरणकर्तृकः । यतश्चरणे तादृशो रेणुः गङ्गादितीर्थानि, अमृतरसः भक्ता इति सर्वसान्निध्याद् युक्तमेव सर्वदोषनिवर्तकत्वमिति ह्यर्थः । तत्रापि **तस्य** ते सर्वदोषनिवारणार्थमेवावतीर्णस्य ॥१७॥

व्याख्यार्थ—प्रारम्भ में भगवान् से फलानुज्ञा के लिए प्रार्थना करता है । वह भगवान् कैसे हैं ? जिनके लिए कहता है, कि वे सर्व प्रकार के फलों को देनेवाले हैं, और दुःख से पार करने योग्य संसार से डरे हुए जो कोई आपके शरण आए हैं, आप उनके भय को भी दूर करते हैं । यद्यपि भगवत् सेवा के लिए ही, वे जगत् में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वे सब सांसारिक माया से भगवत्सेवा से विमुख हो जाते हैं, तो भी 'कृष्ण तवास्मि' इस प्रकार जिसने कहकर आपकी शरण ग्रहण की, उसके सर्व

ही भय आप दूर करते हैं। हम अपराधी हैं, कारण कि नन्द जी को ग्रस गए थे तो भी, आपकी शरण लेने से, हमारा भय भी निवृत्त हो गया है। आपके चरण स्पर्श से वह शङ्का भी निवृत्त हो गई कि आप क्या करेंगे ? इसलिए आप से सम्भाषण करता हूं। शाप के छूट जाने से, मध्य में उत्पन्न हुआ उपद्रव तथा दोष दोनों नष्ट हो गए हैं, वे तो नष्ट हो गए, किन्तु सहज पाप जो विद्यमान हैं, उनके होते हुए सम्भाषण की योग्यता कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहता है, कि आपके दर्शन पाप को नष्ट करने वाले हैं, जिससे सम्भाषण की योग्यता मुझे प्राप्त है। सांप के मन में यह विचार हुआ, कि किसी दूसरे की प्रेरणा से दण्ड करदे तो ? इस भय से जाने की प्रार्थना शीघ्र करता हुआ फिर प्रार्थना करता है, कि मैं आपकी शरण आया हूं। शरण आए हुए के सर्व पाप अपराध नष्ट हो जाते हैं। आप संसारी नहीं हो, किन्तु महान् योगी हो अतः ये नन्दादि आपके पिता आदि नहीं है, परन्तु आप योग के महान् प्रभाव के कारण, यह पिता है, मैं पुत्र हूं वैसा दिखावा[1] करते हैं। आपको कोई नहीं पहचान सकता है, क्योंकि आप महान् योगी हैं। जो तुच्छ होता है, वह छोटे के अपराध पर ध्यान देता है, आप तो महान् पुरुष हैं, सन्तों के भी स्वामी हैं, जब सन्त सब कुछ सहन करते हैं, तो सन्तो के पति आप कौन सा अपराध है, जिसको सहन न कर सको ? अतः सर्व प्रकार मेरे अपराधों को सहन करना ही योग्य है, इसलिए मुझे सेवक जानकर जाने की आज्ञा दीजिए। आप भी देव हैं अतः देवयोनि विद्याधर का पक्षपात करना आपको योग्य है, यह पक्षपात मनुष्य का पक्षपात नहीं है। यदि आप कहो, कि मैं तो सर्व सहन कर आज्ञा दे भी दूं तो क्या यमादिक पीड़ा न करेंगे ? मेरे भक्तों के अपराधी को कालादिक तो दण्ड करेंगे ही। इस पर मैं कहता हूँ, कि आप जो सर्व लोकों के ईश्वर हैं उनके भी आप ईश्वर हैं, अतः आपकी कृपा होने से अन्य किसी की भी चिन्ता न है न होगी।

यदि भगवान् कह दे, कि मैं उदासीन हूँ, मेरा न कोई शत्रु है और न कोई प्यारा है अतः जिन कर्मों के करने का शास्त्र निषेध करते हैं, उनके करनेवालों को कालादिक बाध[2] ही करनेवाले हैं। इस पर कहता है, कि हे अच्युत ! आपके दर्शन से ही मैं अभी ब्रह्म दण्ड से मुक्त हुआ हूं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। यद्यपि आप उदासीन हैं तो भी आपके धर्म उदासीन नहीं है, यदि वे उदासीन होते तो आप के दर्शन मात्र से ब्रह्म दण्ड से छुटकारा न हो जाता, उसमें भी तत्काल ही छुटकारा हो गया, जिससे निश्चय है कि आप चाहे उदासीन ही हो, तो भी आप के धर्म उदासीन नहीं हैं, और आप अच्युत हैं इसलिए आपके धर्म सर्वदा जागरूक हैं उनमें अनित्यता नहीं है, अर्थात् आपके धर्म अपना कार्य सदैव करते रहते हैं, यों नहीं है, कि कभी करे, कभी न करे, अतः जो ब्रह्म दण्ड आपके दर्शन धर्म से नाश हुआ सो हो ही गया है। यदि यों कहा जाए, कि, जितने अनिष्ट निवृत्ति की आवश्यकता थी उतने की निवृत्ति हुई, शेष रहा है—सर्व की निवृत्ति नहीं हुई है, इस पर सर्प कहता है, कि मेरे सर्व पाप निवृत्त हो गए हैं, वैसा मुझे पूर्ण निश्चय है किसी प्रकार का भी उसमें संशय नहीं रहा है। मनुष्य, जिस (आप) के केवल नाम ग्रहण से अपने को और जिनको सुनाता है उन सुनने वालों को भी निष्पाप करता है, उसमें भी खास अधिकारियों को ही नहीं किन्तु सभी को निष्पाप करता है।

१—अनुकरण, २—दण्ड देने वाले हैं।

श्लोक में 'एव' पद आया है जिसका आशय यह है, कि भगवान् के नाम ग्रहण से केवल देह के दोष का ही नाश नहीं होता जीव के अज्ञान आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। और 'च' का तात्पर्य है कि नाम श्रवण करने वालों के भी, देह के तथा जीव के दोष नष्ट हो जाते हैं। नाम लेने से उसी वक्त पाप नाश होकर शुद्धि हो जाती है। जिसका आशय है कि देश और काल कैसा भी हो तो भी नाम से शुद्धि हो जाती है अर्थात् नाम लेने में देश और काल पवित्र होने चाहिए उसकी अपेक्षा नहीं है। एक वक्त एक नाम ग्रहण का इतना महान् फल है तो जो सदैव नाम रटता ही रहता है नाम उसको पवित्र करे इसमें कहना ही क्या है ? जहां केवल नाम का ही इतना माहात्म्य है वहां उसके स्वरूप के माहात्म्य की क्या महिमा होगी ? उसको बताते हुए सर्प कहता है, कि मैं उसके चरण से स्पृष्ट हूं, चरण स्पर्श अतिशय दुर्लभ हैं उसमें भी भगवान् स्वयं चरण स्पर्श करावे यह तो अत्यन्त ही दुर्लभतम है। चरण का स्पर्श तो सर्व स्पर्शों से विशेष स्पर्श है, कारण कि चरण में रज, गङ्गा आदि तीर्थ, अमृत रस तथा भक्त रहते हैं, इसलिए उसके स्पर्श से सर्व दोष नाश हो जाते हैं वह योग्य ही है, श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द देने का यह आशय है, उसमें भी सर्व से विशेषता यह है कि सर्व दोषों के निवारण के लिए ही आप अवतीर्ण हुए हैं यह आशय 'तस्य' और 'ते' शब्दों से निकलता है ॥ १७ ॥

आभास—भगवतो वक्तव्याभावात् तूष्णीम्भावेऽप्यङ्गीकारस्य सिद्धत्वाद्भगवन्त-मनुज्ञाप्य स्वयमेव गत इत्याह **इत्यनुज्ञाप्येति** ।

आभासार्थ—भगवान् को इससे विशेष कुछ भी कहना नहीं था, अतः आपने मौन धारण करली, जिसका आशय है कि प्रार्थना की स्वीकृति अर्थात् सर्प ने जाने के लिए जो आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की थी वह भगवान् ने स्वीकार करली है, यों समझ कर, वह स्वयं चला गया जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक–श्रीशुक उवाच—**इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवाद्य च ।**
सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार सुदर्शन ने सेव्य प्रभु से आज्ञा लेकर, उनको परिक्रमा तथा अभिवादन कर, स्वर्ग में गया और नन्दजी दुःख से छूटे ॥१८॥

सुबोधिनी—यतो दाशार्हः सेव्यः । एवम्भाव एव स्वामी सेव्यो भवतीति । सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं साधनमपि कृतवानित्याह **परिक्रम्येति** । परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य । सर्वपुरुषार्थास्तेन वेष्टिता इति तत्सिद्धिः स्वाधीना । अभिवादनेन स्वतन्त्रतया स्वोत्सर्जनत्वेन पुरुषार्थानामत्याधिक्यं सूचितम् । चकारात् स्तुत्वा, भगवता च अनुज्ञातः, तथेत्युक्तो वा । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति न्यायेन सर्वपुरुषार्थास्तस्मै दत्तवानिति वा । अतः सुदर्शननामत्वाच्च दिवं यातः । विद्याधरलोकमेव गतः । कृच्छ्रात् सर्वदोषाद् यतो मोचितः । नन्दश्च तथा कृच्छ्रान्मोचितः । चकाराद् वैभवं च ज्ञातवान् ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् दाशार्ह है, अर्थात् इस प्रकार के भाव वाले से ही स्वामी सेव्य है। सुदर्शन ने सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए जो साधन किए उनको कहते हैं।

१—प्रदक्षिणा करने से उसने चारों पुरुषार्थों को अपने घेरे में ले लिया, जिससे सिद्धि उसके आधीन हो गई, और अभिवादन से आशीर्वाद प्राप्त करली, जिससे फल प्राप्ति में भी उसको स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। यों होने से पुरुषार्थ अंग हो गए, और सुदर्शन अंगी हो गया जिससे सुदर्शन की अधिकता प्रकट हो गई। श्लोक में आए हुए प्रथम 'च' का आशय यह है कि, सुदर्शन ने केवल नमन नहीं किया, किन्तु स्तुति करके नमन किया है, अथवा यह भी आशय हो सकता है—भगवान् ने जाने की आज्ञा दी, अथवा भगवान् ने सुदर्शन को 'तथा' कहा अर्थात् भगवान् ने कह दिया, कि जो जिस प्रकार मेरी शरण आता है, मैं भी उसकी कामना उस प्रकार पूर्ण करता हूं यों 'तथा' कहने से सर्व पुरुषार्थ उसको दे दिए अतः सुदर्शन नाम होने से, वह अपने विद्याधर लोक में गया। कारण, कि सर्व दोंषों से वह मुक्त हो गया था और वैसे नन्दजी भी दुःख से छूट गए। दूसरे 'च' का आशय है कि भगवान् का वैभव भी जान लिया ।। १८ ।।

आभास—ततस्ते गोपाः सर्वथा भगवत्परायणा जाता इत्याह **निशाम्येति।**

आभासार्थ—इस लीला से सर्व गोप सर्व प्रकार भगवत्परायण हुए जिसका वर्णन शुकदेवजी 'निशाम्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः।
समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं नृप ययुस्तत्कथयन्त आदृता।।१९।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! श्रीकृष्णचन्द्र के इस स्वरूप वैभव को देख व्रजवासी मन में आश्चर्य करने लगे पश्चात् जो नियम लिया था उसे समाप्त कर, आदर सहित उन्हीं चरित्रों का गान करते हुए व्रज में लौट आए ।। १९ ।।

सुबोधिनी—कृष्णस्य तद्वैभवं **निशाम्य** ज्ञात्वा सर्व एव व्रजौकसो विस्मितचेतसो जाताः अलौकिकसामर्थ्यस्य प्रकटितत्वात्। नात्र कृतिसाध्यं किञ्चिद्, येन पूर्वेण गतार्थता स्यात्। अयं त्वनुभावरूपो वैभवः। अन्यथा पादस्पर्शः अलातहननापेक्षया सूक्ष्मत्वात् ते न कथं कार्यं स्यात्। **कृष्णस्येति**। परमानन्दः स्वानुभवसिद्ध इति धर्म्युत्कर्षः। आत्मन एवायं वैभवो, न तु शक्तेः। अनेन स्वरूपमेव तथाविधमङ्गीकर्तव्यम्, यत्र क्रियाज्ञानादीनामभावः। **व्रजौकस** इति दृष्टप्रत्यय एवातिभरः। अत्यन्तविश्वसिताः। अतः क्रियया विस्मिता अपि, पुनरनुभावेनापि विस्मितचेतसो जाताः। ततः तस्मिन् भगवति नियमं समाप्य पुनर्व्रजं ययुः। तत् समारब्धं कर्म कृष्ण एव निवेदितवन्तः। अन्यथा तेन बन्धः स्यात्। पुनर्व्रजमेव ययुः। तत्रैव सर्वसिद्धिरिति मनसाप्यन्यत्र गमनेच्छां न कृतवन्तः। **नृपेति** सम्बोधनं विश्वासार्थम्। दृष्टे हि राज्ञां विश्वास इति। आदृताः सन्तः तदेव कथयन्त इति चित्ते भगवदनुभावाभिनिवेश उक्तः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—कृष्ण के उस वैभव को समझकर, सब ही व्रजवासियों के चित्त अचम्भे में पड़ गए, कारण कि भगवान् ने अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया। यहां जो कुछ हुआ वह साधन से साध्य नहीं था, जिससे पहले में ही इसकी गिनती की जावे, किन्तु यह तो प्रमेय रूप वैभव है। यदि यह प्रमेय रूप प्रभाव न होवे तो केवल पाद स्पर्श जैसा सूक्ष्म कार्य इस बड़े कार्य को कैसे सिद्ध कर सकता जिसको जली हुई महान् लकड़ियों भी नहीं कर सकी। अतः निश्चय है, कि यह प्रमेय रूप वैभव ही है। श्लोक में 'कृष्णस्य' पद से स्पष्ट कर दिया है, कि अपने अनुभव से सिद्ध है कि ये परमानन्द रूप हैं अर्थात् धर्मी रूप हैं जिससे इस कार्य को सिद्ध कर अपना उत्कर्ष प्रकट किया है। यह प्रभाव भगवान् कृष्ण के अपने स्वरूप का ही है, न कि उनकी शक्ति का। इससे स्वरूप ही वैसा है, यों स्वीकार करना चाहिए। जिसमें ज्ञान और क्रियादिकों का अभाव है, अर्थात् यह कार्य भगवान् ने स्व स्वरूप से किया है, न कि ज्ञान क्रिया आदि शक्तियों से किया है। 'व्रजौकस' पद से यह बताया है, कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस स्वरूप वैभव से गोपों को श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास हो गया है क्रिया से विस्मित थे फिर भी इस स्वरूप वैभव से विस्मित चित्त वाले हो गए। पश्चात् उन भगवान् को अपना कर्म समर्पण कर फिर व्रज को गए। यदि अपना कर्म भगवान् को अर्पण नहीं कर जाते, तो फिर कोई विघ्न हो जाता। फिर व्रज में इसलिए गए जो वहां ही सर्व सिद्धि की प्राप्ति होनेवाली है, अतः मन से भी अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं की। परीक्षित् को 'नृप' कहने का शुकदेवजी का यह भाव था, कि परीक्षित इस पर विश्वास करे। राजाओं का विश्वास प्रत्यक्ष पर ही होता है। आदर से भगवान् के चरित्र गाते हुए व्रज में जाने लगे, जिससे यह ज्ञात होता है कि गोपों के अन्तःकरण में भगवान् का प्रभाव जम गया है ॥१९॥

आभास—एवमनन्यभजनार्थं भगवदनुभावं निरूप्य शब्दब्रह्मानन्दं गोपिकाद्वारा सर्वेषु पूरयितुं पुनर्गोपिकाभिः सह शब्दात्मकेन बलभद्रेणापि सह क्रीडां निरूपयति **कदाचिदिति त्रयोदशभिः।**

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने गोपों को अपने अनन्य भजन की सिद्धि के लिए जो अपनी सामर्थ्य दिखाई, उसका शुकदेवजी ने वर्णन कर, अब शब्दात्मक ब्रह्मानन्द को गोपिकाओं द्वारा सर्व में भरने के लिए, भगवान् ने शब्दात्मक बलभद्रजी को अपने साथ ले, पुनः गोपियों से क्रीड़ा की, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न १३ श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः।**
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्ये गोव्रजयोषिताम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—कभी अद्भुत पराक्रम वाले गोविन्द और बलदेवजी व्रजाङ्गनाओं के मध्य, रात्रि के समय, वन में क्रीड़ा करते थे ॥२०॥

सुबोधनी—इयं हि लीला कालप्रधाना। अतोऽत्र दैत्यानां बाधकत्वम्। बाधने भगवत्सामर्थ्येन तन्निराकरणे कृते शब्दस्यैव माहात्म्यं निरूपितं भवतीति मणिदानमग्रजायैव। लौकि-

कालौकिकमाहात्म्ये ज्ञात एव वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सिध्यति। अन्यथा भ्रान्तमीमांसकानामिव सर्वो वेद उत्प्रेक्षापरः स्यात्। **कदाचि**दशीतकाले। **अथ** भिन्नोपक्रमेण। पूर्वोक्तगोपिकाव्यतिरिक्ताभिः सह क्रीडा। याः पूर्वं शास्त्रपरा लौकिकधर्मपराश्च स्थिताः, तासामप्यनुभावदर्शनात् सर्वस्यापि तदधीनत्वज्ञानाद् भगवता बलभद्रेण च सह रमणार्थमिच्छा जाता। भगवांश्च गोविन्द इति तासामपीन्द्र इति क्रियाशक्तिप्रधानो रेमे। रामश्च। तेनापि सह रमणे चित्तप्रसादार्थमद्भुतो विक्रमः पराक्रमो यस्येत्युक्तम्। चकारस्त्वावेशसमुच्चयार्थः। अनेन मध्यमाधिकारिणां वेदपरत्वं न दोषायेति निरूपितम्। अन्यथा प्रमाणपराणामनन्यभावो भज्येत। अद्भुतः पराक्रम इति केवलार्थपराणामेतस्योपयोगः सूचितः। अन्यथा इतरनिराकरणं स्वार्थनिरूपणं चेति भगवति वेदे वा द्विगुणा वृत्तिः स्यात्। अर्थवदेव शब्दस्यापि लीलेति वने रात्र्यामित्युक्तम्। उभावपि विजह्रतुः। उभयो रमणार्थं पूर्वगोपिकापेक्षया हीना इति गोव्रजयोषितां मध्य इत्युक्तम्। गोप्राधान्यो व्रजः, तत्सम्बन्धिन्यो योषित इति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—(यह लीला शब्द ब्रह्म की लीला है, उसमें काल मुख्य है, अर्थात् जिस कर्म के लिए जो काल नियत हुआ है उसमें ही वह किया जाता है। जैसे कि कहा है 'उदिते-जुहोति' सूर्योदय में, होम करता है अतः कहा जाता है, कि शब्द ब्रह्म की) इस लीला में काल प्रधान है, जिससे उसमें दैत्य बाधा कर सकते हैं। जिन बाधाओं को भगवान् अपनी सामर्थ्य से दूर करते हैं उससे शब्द ब्रह्म का माहात्म्य प्रकट होता है, इसलिए इस लीला प्रसङ्ग में भगवान् शङ्खचूड़ दैत्य से प्राप्त की हुई मणि को लाकर अपने बड़े भ्राता बलदेवजी को देते हैं।

जब लौकिक तथा अलौकिक माहात्म्य का ज्ञान होता है, तब वेद स्वतः प्रमाण है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, यदि यों न होवे, तो भ्रान्त हुए मीमांसकों के समान, समग्र वेद उत्प्रेक्षा पर हो जाएगा। श्लोक में 'कदाचित्' शब्द आया है, जिसका तात्पर्य है जब शीत काल नहीं था, उस समय, और 'अथ' शब्द आया है जिसका तात्पर्य यह है, कि अब यह लीला उस लीला से पृथक् प्रकार की है। कारण, कि ये गोपियां पूर्व क्रीड़ा में जो गोपियां थीं, वे नहीं है, अन्य प्रकार की हैं। पहले जिन गोपियों ने यों समझा था कि, यों क्रीडा करना शास्त्र के अनुसार नहीं है, इसलिए क्रीड़ा से दूर रही थी तथा जो पति आदि के भय से सम्मिलित नहीं हुई थीं वे दोनों, शास्त्र और लौकिक परायण रह गई थीं, अब वे भी भगवान् का अनुभाव देख समझने लगीं, कि सब कुछ भगवान् के आधीन है, जिससे उनको बलभद्र तथा भगवान् के साथ रमण करने की इच्छा उत्पन्न हुई। भगवान् गोविन्द होने से उनके भी इन्द्र हैं अतः क्रिया शक्ति बलरामजी को मुख्य बनाकर, रमण करने लगी। अद्भुत पराक्रमी बलरामजी के साथ रमण से चित्त प्रसन्न होगा अतः उनसे भी रमण की गोपीजनों को इच्छा हुई, श्लोक में 'च' शब्द आया है उसका आशय यह है कि उस समय श्री बलरामजी में भगवान् का आवेश भी हो गया था। इससे यह ज्ञात होता है कि जो मध्यमाधिकारियों का वेद निष्ठ होना दोष नहीं। अन्यथा जो प्रमाण पर (वेद अथवा बलरामजी में निष्ठावाले हैं) हैं उनकी अनन्यता का भंग हो जाएगा। "रामश्चादभुत विक्रमः" अर्थात् राम का अद्भुत पराक्रम है। यों कहने से, जो केवल अर्थ पर हैं (अर्थात् वेद के कल्प में जो बिना खींचतान किए जो अर्थ निकलता हो उसे अनुसरण करते हो एवं भगवान् के कल्प में जो अपनी रक्षा एवं काम सुख के प्रयोजन में लगे हुए हों अर्थात् भगवान् में जिनकी निष्ठा सोपाधिक हो ऐसे) उनके लिए इनकी उपयोगिता

दिखलाई अन्यथा (यों अधिकारि भेद के भजन में भेद होता और भजन के कारण फल में भी यों इसी को उपपन्न करने के लिए दोनों रूप में भगवान् की क्रीड़ा हो रही है, यदि दोनों रूपों में लीला न करें तो) इतर का निराकरण (वेद के कल्प में परिसंख्या विधि की तरह अर्थात् "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' का तात्पर्य जैसे इतर पशुओं के भक्षण के निषेध में है वैसे सारी विधियों का तात्पर्य वैदिकेतर कर्म के निषेध में सिद्ध होगा न कि वैदिक कर्म के विधान में, एवं भगवान् के शंखचूड़ का वध इतर निराकरण है) एवं स्वार्थ के निरूपण में (वेद के कल्प में वैदिक कर्मों के न करने पर प्रत्यवाय होता है अतः अवश्य करने भी चाहिए यों विधान में तात्पर्य अर्थ होगा तथा भगवान् के कल्प में स्वार्थ का ऊपर दे ही दिया गया है) भी दुहरी कृत्ति माननी पड़ेगी (जिसे मीमांसा में वाक्य भेद कहते हैं यह एक दोष है) अर्थ की भांति शब्द की भी लीला है, अतः 'वने तथा रात्र्यां' कहा है। तात्पर्य यह है कि शब्द अर्थ से पृथक् नहीं है और अर्थ शब्द से पृथक् नहीं है दोनों एक ही हैं, इसलिए दोनों वन में रात्रि के समय रमण करने लगे।

दोनों ने साथ मिलकर रमण किया, उस समय जो गोपियाँ थी वे पूर्व रमण वाली गोपियों से हीनाधिकारिणियां थी, ये गोपियां गौ जिसमें मुख्य है वैसे व्रज से सम्बन्ध वाली थी ॥२०॥

टिप्पणीजी का आशयः—लौकिक एवं अलौकिक माहात्म्य के न जानने पर फलश्रुति अर्थात् किस कर्म को करने से क्या फल होगा यह बताने वाले वचनों की संगति यदि प्रत्यक्ष से न बैठे तो उसे उत्प्रेक्षा परक मानना यह आधुनिक मीमांसकों का स्वभाव है। जैसे "यजमानः प्रस्तरः" यहां प्रत्यक्ष में यजमान प्रस्तर—याग में उपयोग आनेवाली दर्भमुष्टि—नहीं है अतः यजमान को प्रस्तर कहने का तात्पर्य यही है कि वह भी प्रस्तर की तरह याग में अत्युपयोगी है। अर्थात् यह आलंकारिक प्रयोग हुआ। वस्तुतः तो बात यह है, कि लौकिक प्रमाणों के आधार पर वेद के अर्थ से खिलवाड़ करने वाले भ्रान्त ही हैं क्योंकि लौकिक प्रमाण अलौकिक अर्थ के बारे में कुछ भी ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, अतः श्रुति का प्रमाण होना इसी में निहित मानना चाहिए कि जैसे श्रुति कहती है वही वस्तु का अलौकिक स्वरूप है।

आभास—तत्र शब्दप्राधान्यं निरूपयितुमाह **उपगीयमानौ ललितमिति**।

आभासार्थ—इस लीला में शब्द की मुख्यता निरूपण करने के लिए निम्न 'उपगीयमानौ' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः।**
अलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजाम्बरौ ॥२१॥

श्लोकार्थ—स्नेहवाली स्त्रियां आपकी लीला मनोहर रीति से गा रही थी, दोनों भ्राताओं ने सुन्दर आभूषण पहने थे, शरीर पर चन्दन का लेप किया था, वनमाला पहनी थी तथा सुन्दर वस्त्र धारण किए थे ॥२१॥

सुबोधिनी—सर्वाः स्त्रियः अन्तःस्नेहसम्बद्धा भगवतो गुणगानपरा जाताः। तासामाभ्यन्तरो बाह्यश्च भावो निरूपितः। एवं युक्ताभिः सह स्वस्य सर्वोत्कृष्टस्यैव भावो युक्त इति उभयोः षड्गुणान् निरूपयति **अलङ्कृतेति** सार्धैस्त्रिभिः। आदावलङ्कृतौ सर्वाभरणभूषितौ। शब्दे शिक्षादयः, अर्थे देशादयश्चोत्कृष्टा अलङ्काराः। तदभावे तत्र रतिर्न स्यात्। ततः **अनुलिप्ताङ्गौ** चन्दनादिभिः। सद्वासनाव्यतिरेकेणोभयत्रापि रतिर्न स्यादिति। अङ्गेष्वपि सर्वेषु सद्वासनार्थमङ्गपदम्। **स्रग्विणौ** मालायुक्तौ। कीर्तिरपि सहायत्वेनोभयत्राप्यपेक्ष्यत इति। विरजेऽम्बरे ययोरिति। सर्वदोषाभावः शुद्धा माया चापेक्ष्यत इति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—सकल स्त्रियों के अन्तःकरण भगवान् के स्नेह से सम्बद्ध हो गए थे, जिससे वे भगवान् के गुणगान में परायण हो गई थी। इससे उनका भीतर और बाहर का भाव वर्णन किया है। इस प्रकार से योग्य स्नेहवालियों के साथ अपना भाव भी सर्वोत्कृष्ट प्रकट कर दिखाना योग्य है, इससे दोनों के षड्गुणों का वर्णन साढ़े तीन श्लोकों में करते हैं।

सर्व प्रथम अलंकृत होने का अर्थात् सर्वाभरणों से भूषित होने का वर्णन करते हैं। शब्द के कल्प में शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त आदि वेद के अलंकार हैं। तथा अर्थ के कल्प में देश आदि उत्कृष्ट अलंकार हैं। यदि इस तरह अलंकृत न हों तो उनमें रति उत्पन्न न होती। वे दोनों (रामकृष्ण) अंगो पर चन्दन का लेप लगाए हुवे, जिससे उनमें से सद्वासना प्रकट हो रही थी। सद्वासना से रति उत्पन्न होती है। श्लोक में "अंग" पद से यह प्रकट होता है कि, सकल अंगों से सद्वासना प्रकट हो रही थी। जब तक कीर्ति न हो, तब तक भी रति उत्पन्न नहीं होती, अतः दोनों ने माला धारण कर कीर्ति प्रकट की। रति वृद्धि के लिए सभी तरह के दोषों का न होना भी आवश्यक है और इसी तरह शुद्ध माया का होना भी अतः रज रहित शुद्ध वस्त्र धारण कर अपने दोषाभाव प्रकट किए ॥२१॥

श्लोक—**निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम्।**
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥

श्लोकार्थ—चन्द्र तथा तारों के उदय वाले, मल्लिका की गन्ध से मद में भरे भ्रमरों के नाद से सेवित और कमलों की सुगन्धवाली वायु वाले, उत्तम सन्ध्या काल का दोनों सन्मान करते थे ॥२२॥

सुबोधिनी—कर्मणां रात्रिरेव प्रधानमिति सन्ध्यायामेव सन्ध्याग्निहोत्रादिकमिति निशामुखस्य सन्माननम्। तं कालं गुणवन्तं वर्णयति प्रकृतोपयोगाय **उदितोडुपतारकमित्यादिना**। उदित उडुपः तारकाश्च यस्मिन्। चन्द्रोदयः पर्वसूचकः। नक्षत्रोदयो मेघाभावसूचकः। प्रमाणं चन्द्रः, फलं नक्षत्राणीत्यपि। पुण्यो वायुः फलसूचक इति तं वर्णयति **कुमुदवायुना जुष्टमिति**। कुमुदसम्बन्धी वायुः शीतलो मन्दश्च भवति। निशामुखस्य विशेषणम्। उत्तमाधिकारिभिरपि सेवितमित्याह **मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टमिति**। मलिकागन्धः शोभनवासनारूपः।

तेन च मत्ता इतरविस्मारकाः । तादृशा अलयः । षट्पदत्वात् सर्वज्ञाः । तैः सेवितमिति । एवं त्रिधाकाल उत्तमो निरूपितः । तादृशं कालं मानयन्तौ, समीचीनोऽयमिति स्तुवन्तौ । अनेनाङ्गेऽपि फलश्रुतिर्युक्तेति निरूपितम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—निशामुख अर्थात् सन्ध्या काल का दोनों ने सन्मान किया, कारण कि कर्म करने में रात्रि की प्रधानता है जिससे सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि कर्म सन्ध्या के समय किए जाते हैं, यह काल गुणवाला होने से, चालू प्रसङ्ग में उपयोगी है अतः शुकदेवजी उसके गुणों का वर्णन करते हैं। उस समय चन्द्रमा तथा तारे उदित हो गए थे। चन्द्रमा के उदय के वर्णन से ज्ञात होता है, कि वह दिन पूर्णिमा का था क्योंकि पूर्णिमा में ही चन्द्रमा का उदय सन्ध्या काल में हो जाता है, और नक्षत्र भी चमक रहे थे, जिससे प्रकट होता है, कि आकाश निर्मल है अर्थात् मेघाच्छन्न नहीं है। इसमें प्रमाण चन्द्रमा है और फल नक्षत्र हैं यह भी सूचित हुआ। उस समय जो कमलों की गन्ध वाली पुण्य वायु चल रही थी वह फल की सूचना करने वाली थी। मल्लिका की गन्ध से मत्त भ्रमरों से सेवित कहने से बताया है, कि इस काल का सेवन करने वाले उत्तमाधिकारी भी हैं। मल्लिका पुष्पों की गन्ध उत्तम महकवाली है उससे जो मत्त होते हैं वे दूसरे सबको भूल जाते हैं। भ्रमरों के छ पैर होते हैं, जिसका आशय है वे सर्वज्ञ हैं वैसे भ्रमरों से सेवित यह काल है। इस प्रकार काल की तीन तरह की उत्तमता वर्णन की है, वैसे काल के लिए दोनों भ्राता 'यह काल सुन्दर है, यों कहते हुए उसकी स्तुति करते थे। काल कर्म का अङ्ग है, उसकी स्तुति कर दोनों ने यह बताया है कि वेद में जो काल की फल श्रुति है वह योग्य है ॥२२॥

श्लोक—**जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।**
तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—सर्व प्राणियों के मन और कानों के मङ्गलकारी जैसे हो, वैसे एक साथ स्वर के मण्डलों की मूर्छना करते हुए दोनों भ्राता गान करने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—तदा सर्वप्राणिनामेव मनःश्रवणयोः मङ्गलं जगतुः, गानं कृतवन्तौ। पर्यवसानोत्तमत्वान्मनोमङ्गलम्, स्वरूपोत्तमत्वात् **श्रवणमङ्गलमिति**। तत्र गाने विशेषमाह **तौ कल्पयन्तौ**विति। युगपदेव स्वरमण्डलस्य स्वरसमूहस्य मूर्च्छितं, मूर्च्छनां कलयन्तौ इति द्वयोरेकमुखता निरूपिता। मूर्च्छनाव्यतिरेकेण न मनो लीनं भवति। लयव्यतिरेकेण च सर्वात्मना तत्परता न भवतीति तथाकरणम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—तब दोनों ने सर्व प्राणियों के मन और कर्णों के लिए मङ्गल कारक गान किया। यह गान अन्त में अर्थात् फल रूप में उत्तम होने से मन के लिए मङ्गल रूप था स्वरूपतः उत्तम होने से श्रवण मंगल था। गान की विशेषता बताने के लिए शुकदेवजी कहते हैं, कि वे दोनों एक ही समय में साथ ही स्वर समूह की मूर्छना करते थे, यों कहने का भावार्थ यह है, कि बलरामजी और श्रीकृष्ण का मुख एक है अर्थात् उनमें भेद नहीं है। वे दो दीखते हुए भी एक हैं, बलदेवजी वेद रूप हैं तो श्रीकृष्ण वेद के अर्थ रूप हैं। जब तक गान में मूर्छना प्रकट नहीं होती है तब तक मन लीन

नहीं होता है, और लय के सिवाय सर्वात्मभाव से तत्परता भी नहीं होती है, इसलिए गान इस प्रकार किया, जैसे मूर्छना तथा लय प्रकट देखने में आवे ॥२३॥

आभास—ततस्तस्य फलमपि जातमित्याह **गोप्य** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् उसका (गान का) फल भी हुआ, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'गोप्यः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।**
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! गोपियाँ वह गीत सुनकर मूर्छित हो गईं, जिससे उनका अपने वस्त्रों के गिरजाने का और केशों में गूंथे हुए फूलों के गिरने का भी भान नहीं रहा ॥२४॥

सुबोधिनी—तयोर्गीतं तादृशमाकर्ण्य मूर्छिताः सत्य आत्मानं नाविदन्। मूर्च्छायामपि वासना तिष्ठतीति नाविदन्निति तदभावायोक्तम् । **नृपेति** सम्बोधनं गीतरसाभिज्ञत्वाय । यो भावः सर्वथा न विस्मृतो भवति तं वर्णयति **स्रंसद्दुकूलमिति** । दुकूलमधोवस्त्रम् । तदप्यधः पततीव । स्रस्ताः केशाः तेषु स्रजश्च यासाम् । देहे आन्तं विस्मरणं निरूपितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—उन दोनों का इस प्रकार से किया हुआ गान सुनकर, गोपियां अपने को भूल गईं । यहां 'आत्मानं' अर्थात् अपने को कहने का भाव बताते हैं कि मूर्छा में भी वासना रहती है, किन्तु इनको वैसी मूर्छा न थी जिसमें वासना हो । वासना रहित थी जिससे अपने को भी भूल गईं इसलिए श्लोक में 'आत्मानं' पद दिया है । परीक्षित को नृप विशेषण इसलिए दिया है, कि वह गीत रस को जानता है । गोपियों में गान सुनने से वैसा गूढ भाव उत्पन्न हुआ, जो भाव कभी भी विस्मृत होने वाला नहीं है जिसका वर्णन करते है, उस भाव में ऐसे मग्न हो गई कि उनको अपने अधोवस्त्र जो गिरने जैसे हो गए उनका भी ध्यान नहीं रहा । तथा केशों से पुष्प गिर रहे थे, उनका भी ज्ञान नहीं रहा । इससे प्रमाणित होता है कि गोपियों को देह की अत्यन्त विस्मृति हो गई ॥२४॥

आभास—अवश्यं प्रमाणबले मार्गे दैत्योपद्रवो भवतीति तन्निरूपणार्थं लीलामुपसंहरति **एवं विक्रीडतोरिति** ।

आभासार्थ—जहां प्रमाण का बल होता है, वहां दैत्य उपद्रव करते ही हैं, उसके निरूपण के लिए 'एवं विक्रीड़तोः' श्लोक में लीला का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमतवत् ।**
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार स्वेच्छा के अनुसार मदोन्मत्त की भांति दोनों भ्राताओं के गाते और क्रीड़ा करते समय शङ्खचूड़ नाम वाला कुबेर का सेवक आगया ॥२५॥

सुबोधिनी—स्वैरं यथा भवति तथा विशेषेण क्रीडतोरिति । मूर्छिताभिरिव प्रमत्ताभिरिव क्रीडा अत्यन्तं स्वच्छन्दा भवतीति । मध्ये क्रीडा, मध्ये गानमिति द्वयं निरूपयति । क्रीडतोर्गायतोः सतोरिति । स्त्रीभिः सह समानधर्मतासिद्धयर्थं **सम्प्रमत्त**वदिति । आवेशावतारयोः आवेशदशायां तुल्यतेति ज्ञापयितुं द्वयोः सामान्येन निरूपणम् । एवं सर्वस्मिन्नेव विकले शङ्खचूडनामा कश्चिद् धनदस्य कुबेरस्यानुचरः स्त्रीकामो भगवन्तं प्राकृतं मत्वा स्वयं ता नेतुमागत इत्याह शङ्खचूड इति । शङ्खनिधिश्चूडायां वर्तत इति । अनेन नारदस्यापि दोषः परिहृतः । यथा तौ पूर्वं धनमत्तौ, एवमयमपि प्राप्तनिधिरिति सम्प्रमत्तः । धनद इति नाम्ना च सर्वैव सामग्री श्रीमदरूपा निरूपिता । यत्र धनम्, तत्रैव स्त्रिय उचिता इति । सर्वा एव श्रुतयो लौकिकाः कर्तव्या इति पाषण्डिनां बुद्धिः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—दोनों भ्राता स्वच्छन्द होकर विशेष प्रकार से क्रीड़ा करने लगे। स्वच्छन्दता का कारण कहते हैं कि जिनसे क्रीड़ा कर रहे थे, वे गोपियां मूर्छित जैसी एवं प्रमत्त जैसी थीं इसलिए वे भी प्रमत्त जैसी क्रीड़ा करने लगे। गान करते हुए बीच में क्रीड़ा करते थे, फिर क्रीड़ा आधे में छोड़ गान करते थे इस मदोन्मत्त जैसे बनकर गान और विशेष क्रीड़ा में मग्न थे। वैसे प्रमत्त बन जाने का कारण यह था, कि जिनसे क्रीड़ा कर रहे थे वे प्रमत्त थी अतः इनको भी वैसा ही बनना पड़ा। समान धर्मी होने पर ही रस की अभिव्यक्ति होती है। दोनों[1] को इस क्रीड़ा में समान दिखलाया गया है जिसका तात्पर्य यह है, कि इस क्रीड़ा में बलदेवजी में श्रीकृष्ण का आवेश है अतः दोनों की समानता कही है।

इस प्रकार क्रीड़ा तथा गान करते हुए जिस समय, सर्व की अवस्था उन्मत्त जैसी हो गई, उस समय स्त्रियों की कामना वाला कोई शङ्खचूड़ नाम कुबेर का सेवक भगवान् को प्राकृत पुरुष जानकर स्वयं उन स्त्रियों को लेने के लिए आया, उसका नाम शङ्खचूड़ इसलिए पड़ा था जो इसके मस्तक में शङ्खनिधि[2] थी, इस नाम से यह बताया गया है, कि धन जिनके पास होता है वे धन के मद से मर्यादा रहित होकर अनुचित कार्य करते हैं, जिससे उनको शिक्षा देने के लिए महान् पुरुषों को दण्ड देना पड़ता है, दण्ड देने में उन महापुरुषों का कोई दोष नहीं है। जैसे कि नलकुबर और मणिग्रीव धन मद से उन्मत्त हो, निर्लज्ज बन क्रीड़ा करते थे, उनके मद को नाश करने के लिए नारदजी ने उनको शाप दिया, जिसमें नारदजी का कोई दोष नहीं है, यहां शङ्खचूड़ भी धन मद से उन्मत्त हो भगवान् को प्राकृत पुरुष जान स्त्रियों को लेने के लिए आया है, इस अपराध से भगवान् इसका नाश करेंगे जिसका दोष भगवान् को भी नहीं लगेगा। कुबेर का नाम धनद कहकर यह समझाया है कि वहां सर्व सामग्री मदरूप है और जहां धन है वहां ही स्त्रियां हो यह उचित है।

१—बलरामजी और श्रीकृष्ण, २—लाख-करोड़

पाखण्डियों की बुद्धि[1] सर्व श्रुतियों का अर्थ लौकिक पदार्थों पर लगाती है ॥२५॥

आभास—ततो यत् कृतवांस्तदाह **तयोर्निरीक्षतोरिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् शङ्खचूड़ ने जो कृत्य किया, उसका वर्णन 'तयोर्निरीक्षतो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तयोर्निरीक्षतो राजन् तन्नाथं प्रमदाजनम् ।**
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन ! उन दोनों के देखते हुए तथा वे दोनों जिन स्त्रियों के नाथ हैं ऐसी उन आक्रोश करती हुई स्त्रीयों को उठाकर निःशंक होकर उत्तर दिशा की तरफ चल पड़ा ।

सुबोधिनी—राजन्निति सम्बोधनं शत्रूणां स्त्रीहरणं स्वाभाविकमिति तत्र सहजदोष इति ख्यापनार्थम् । तावेव नाथौ यस्य । प्रमदाः स्त्रीविशेषाः । तेषां जनः समूहः । सामान्यशब्दः समूहवाची भवतीति । विशेषपराश्चेन्न गच्छेयुरिति ज्ञापयितुं सामान्यवचनम् । **क्रोशन्तमिति** । तासामनिच्छा तस्य च भयाभावः सूचितः । **कालयामास** । यथा कालः अप्रतिहतबलः सर्वानेव कालयति हरति, तद्वदित्यर्थः दी । **उदीच्यां दिशीति** । स्वगृहे बलाधिक्याय । अत एव अशङ्कितः, किं करिष्यति भगवानिति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में परीक्षित् को हे राजन् ! संबोधन देने का आशय, आचार्य श्री प्रकट करते हैं, कि शत्रुओं की स्त्रियों को हरण करना, यह राजाओं का स्वाभाविक धर्म है उनमें यह सहज+दोष है । शङ्खचूड़ भी राज सम्बन्धी है अतः उसमें भी यह दोष सहज ही है ।

वे दो भ्राता जिनके नाथ हैं, वैसी चिल्लाती हुई विशेष स्त्रियों के समूह को, जैसे काल के बल को कोई भी रोक नहीं सकता है, वैसे शङ्खचूड़ भी अपने को वैसा समझ, निडर हो, उनको उत्तर दिशा की तरफ ले जाने लगा, कारण कि अपने घर में अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसलिए भी उसको डर न हुआ वह समझने लगा कि भगवान् अब क्या करेंगे ? ये गोपियां रास पञ्चाध्यायी वाली गोपियां नहीं थीं यदि वे होती तो शङ्खचूड़ को लेने की शक्ति न होती (रासस्थ गोपियां तो पुरुषोत्तम स्वरूप में आसक्त थीं और ये साधारण गोपियां वेद रूप बलराम और अर्थ रूप कृष्णचन्द्र में आसक्त थीं) इसलिए, इनके लिए सामान्यवाचक जन शब्द दिया है ॥२६॥

आभास—ततो भगवद्भ्यां यत् कृतं तदाह **क्रोशन्तमिति** ।

+ अपने जन्म के साथ वह दोष भी जन्मा है— अनुवादक
१—तामसी बुद्धि सदैव विपरीत अर्थ करती है—अनुवादक

आभासार्थ—अनन्तर दोनों भ्राताओं ने जो कुछ कृत्य किया उसका वर्णन 'क्रोशन्तं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—जैसे डाकू से पकड़ी हुई गाएं चिल्लाती (रंभाती) हैं वैसे ही अपनी की हुई गोपियों को 'कृष्ण ! राम !' इस प्रकार नाम ले लेकर दुःखित ध्वनि से पुकारती हुई देखकर, दोनों भ्राता उनके पीछे दौड़े ॥२७॥

सुबोधिनी—यदि ताः कृष्णरामेत्याक्रोशं न कुर्युः, तदा न निवारयेदपि । नहि भगवान् स्वतोऽन्यचित्तं निवारयति । तत्राप्यन्यस्य चेत्, न निवारयेत् । किन्तु **स्वपरिग्रहं** स्वेन पूर्वमेव परिगृहीत इति क्रोशन्तं स्वपरिग्रहं विलोक्य अन्वधावतामिति । भ्रातरावित्युभयोः परिग्रहः उभाभ्यां रक्षणीय इति । अनु ग्रहणानन्तरमेवाधावताम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जो हे कृष्ण ! हे राम ! इस प्रकार नाम लेकर वे आक्रन्द न करती तो उनको लौटाकर लाने के लिए न भी जाते । भगवान् जिनका दूसरों में चित्त होता है, उनसे उनके चित्त को स्वतः नहीं हटाते हैं और उसमें भी, यदि वे दूसरे की हो तो लौटाने का प्रयत्न न करें, किन्तु ये तो अपनी की हुई हैं । आपने पहले ही इनको अपना लिया है अतः चिल्लाते हुए अपने परिग्रह को ख, दोनों भ्राता उनके पीछे दौडे, कारण, कि दोनों का परिग्रह है दोनों ने उनको अपनाया है अतः दोनों को उनकी रक्षा करनी योग्य है । श्लोक में 'अनु' पद का भावार्थ बताते हैं, कि शङ्खचूड़ के ले जाने के पीछे ये दोनों भ्राता दौडे थे ॥२७॥

आभास—दूरे नीयमानाः दूरादेवाश्वासितवन्तावित्याह **मा भैष्टेत्यभयारावाविति** ।

आभासार्थ—शङ्खचूड़ उनको दूर ले गया था, अतः उनको आश्वासन देने के लिए यहां से ही जोर के शब्दों से कहने लगे 'मत डरो' जिसका वर्णन 'मा भैष्टेत्यभयारावौ' इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हाथ में शाल के वृक्ष ले 'मत डरो मत डरो' ऐसे अभय शब्द कहते हुए अति वेग के साथ जल्दी से दौड़ते हुए उस नीच यक्ष के पास तुरन्त पहुँच गए ।२८।

सुबोधिनी—**मा भैष्टेत्ययमारावो** भयनिवर्तको भवति । शालवृक्षौ हस्ते ययोरिति महासामर्थ्यं दूरादेव प्रदर्शितम्, न तु तयोः कश्चनोपयोगोस्ति । **तरस्विनौ** अतिवेगवन्तौ । यथा मध्ये एकामपि गृहीत्वा न गच्छेत्, न स्पृशेद्वेति शीघ्रमासेदतुः निकटे गतौ । **आसेधतुर्निवारितवन्तौ** वा ।

तं शङ्खचूड़म् । **तरसा**ऽविचार्यैव । देवो मनुष्यापेक्षया महाबलो भवतीति विचार प्राप्तिः । त्वरितं पलायनार्थं । यतो गुह्यकानां यक्षाणां मध्येऽधमः । आगमने यक्षत्वं प्रयोजकम्, पलायनेऽधमत्वम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—'मत डरो' यह वचन भय को दूर करने वाला है। दोनों भ्राताओं के हाथों में शाल के वृक्ष थे जिससे उनकी महती समर्थता प्रकट हो रही थी। उस वृक्ष का उनको किसी प्रकार प्रयोग करने का नहीं था केवल अपनी सामर्थ्य दिखानी थी। बहुत वेग से, जल्दी इसलिए जाने लगे जैसे वह एक स्त्री को भी ले न जा सके और न किसी को स्पर्श भी कर सके, अतः जल्दी से उसके पास पहुँच गए। यदि श्लोक में 'आसेधतुस्तं' इस प्रकार पाठ माना जाए तो उसका अर्थ होगा, 'तं' उसको (शङ्खचूड़ को) 'आसेधतु' रोक रखा अर्थात् पकड़ लिया। यह विचार नहीं किया कि देवता मनुष्य से बलवान् होते हैं। जल्दी क्यों की ? भाग न जावे इसीलिए जल्दी की, कारण कि यक्षों में यह नीच है भागने में इसको लज्जा न होगी, स्त्रियों के ले जाने के लिए आने में यक्षत्व प्रेरक था, भागने में इसकी अधमता प्रेरक थी ॥२८॥

आभास—पूर्वं ताभिः सहितः शीघ्रं गच्छन् स्थितः, इदानीं स्वयमेव पलायितुं विचारितवानित्याह **स वीक्ष्येति** ।

आभासार्थ—प्रथम गोपियों को साथ ले, जल्दी जाने की इच्छा वाला था, किन्तु अब इनके पहुँचने पर आप अकेले भागने का विचार करने लगा, जिसका वर्णन 'स वीक्ष्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।**
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥

श्लोकार्थ—काल व मृत्यु के समान उन भ्राताओं को यहां आया हुआ देख वह मूढ स्त्रीजनों को छोड़ अकेला ही जीने की इच्छा से भाग गया ॥२९॥

सुबोधिनी—अनुप्राप्तौ भगवन्तौ वीक्ष्य, सोऽल्पबुद्धिः स्त्रीजनं विसृज्य, प्राद्रवदिति सम्बन्धः । तस्य तथाकरणे या बुद्धिरासीत्, तामाह **कालमृत्यू इवोद्विजन्निति** । एकः कालः स्वस्य नाशसमयः । अपरो मारक इति । एकोऽप्यनिवार्यः, तत्रोभयोः किं वक्तव्यमिति पलायने जीवितेच्छैव हेतुः । सति जीवने भोग इति । ननु शरणं कुतो न गतः, जीवेत्, न तु पलायनं जीवनसाधनमिति चेत्, तत्राह **मूढ** इति । इममर्थं न जानातीति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्र को अपने पास पहुँचा हुआ देख, वह अल्प बुद्धिवाला स्त्रीजनों को छोड़ दौड़ गया। उस (शङ्खचूड़) को यों करने की बुद्धि इसलिए हुई कि उसको यह ज्ञान हो गया कि एक काल है अर्थात् मेरे मरने का समय सिद्ध करने वाला है और दूसरा मारने वाला है। एक को भी हटा नहीं सकता हूँ तो दोनों को हटाने के लिए क्या कहना है ? इसलिए यदि जीना है तो भागना ही अच्छा है, जीता रहूंगा तो भोग भोग सकूंगा, यों निश्चय कर,

भाग गया। यदि जीने की ही इच्छा थी तो भागने के बदले शरण आ जाता, तो सत्य जीवन हो जाता, भागजाना कोई जीने का साधन नहीं था इसलिए ही श्लोक में 'मूढः' कहा है। यह शंखचूड़ मूर्ख है, इस आशय को नहीं जानता है, अर्थात् भगवान् के शरण जाने से मेरा जीवन सुरक्षित रहेगा इस भाव का उसको अज्ञान है ॥२९॥

आभास—**अनुपाये प्रवृत्तस्य न** कार्यं सिध्यतीत्याह **तमन्वधावदिति**।

आभासार्थ—जो साधन नहीं है, उसको साधन समझ यदि कोई भी करता है, तो उसका कार्य पूर्ण नहीं होता है इसका वर्णन 'तमन्वधावत्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति।**
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥३०॥

श्लोकार्थ—जहां जहां वह दौड़ता हुआ जा रहा था, वहां वहां गोविन्द भी उसको पकड़ कर उसकी मणि लेने की इच्छा से उसके पीछे दौड़े, और बलरामजी वहां ही स्त्रियों की रक्षा के लिए खड़े रहे ॥३०॥

सुबोधिनी—**गोविन्द** इति। तेषां रक्षार्थं विनियोग आवश्यकः। स्वक्रियाया अन्यथेन्द्रत्वं न स्यादिति। रक्षा च दोषस्य मूलोच्छेद एव, न तु तस्मिन् कथमपि विद्यमाने। अतो यत्र यत्रैव स पलायते, तत्रैव तमन्वधावत्। ननु दूरादपि मारणे सम्भवति भगवान् किमिति धावनं कृतवान्, तत्राह **जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्न**मिति। दूरान्मारणे यक्षास्तदीयास्तं नयेयुः। अमारितश्च स्यात्। मणौ विद्यमाने मणिरिव शस्त्रैरप्यवध्यः। अतः स्वस्यैव गमनम्। जीवानामवध्य इति। स्त्रियो रक्षन् बलः जातः। अन्यथा ततोऽन्यो हरेत्। तदीया हि बहवः, ते घातयेयुरेव। अत एकेन रक्षितव्याः **बल** इति बहूनामप्यागमने रक्षार्थमुक्तम्। स्त्रियो हि रक्षणीया एव ॥३०॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण गोविन्द हैं अतः उनको अपनी क्रियाशक्ति का भक्तों के लिए उपयोग करना आवश्यक है, यदि भगवान् अपनी क्रिया शक्ति भक्तों की रक्षा के कार्य में न लगावें तो आपका इन्द्रपन सिद्ध न होवे। दोष किसी प्रकार अंश रूप भी न रहे, जड़ से कट जावे जिसको 'रक्षा' कहा जाता है। अतः जहां जहां वह भागता था वहां वहां कृष्ण भी उसके पीछे जाते थे। यदि कहो, कि भगवान् दूर से भी मार सकते हैं तो पीछे पीछे दौड़ने की क्या आवश्यकता थी, इसके उत्तर में कहते हैं, कि केवल वध नहीं करना था किन्तु उसके शिर में जो मणि थी वह भी लेनी थी, यदि भगवान् उसको दूर से मार देते तो वह मणि उसके सम्बन्धी यक्ष ले जाते, और जब तक उसके मस्तक में मणि रहती है, तब तक वह मरता नहीं, मणि के होते हुए शस्त्रों से भी उसका वध नहीं हो सकता। दूसरे किसी जीव से भी वह मारा नहीं जाता, इसलिए अपना जाना ही आवश्यक था, बलरामजी स्त्रियों की रक्षा करते थे। यदि वहां स्त्रियों की रक्षा के लिए बलरामजी न रहते, तो वहां से कोई दूसरा यक्ष ले जाता, उस शङ्खचूड़ के अन्य बहुत साथी थे जो स्त्रियों का वध भी शायद

करदे अतः रक्षा के लिए एक का वहाँ ठहरना आवश्यक था बलरामजी बलवान हैं, बहुत आवे तो उनसे भी रक्षा करने में शक्तिमान हैं, कारण, कि स्त्रियां तो रक्षा करने के ही योग्य हैं ॥३०॥

आभास—ततो भगवान् यत् कृतवाँस्तदाह **अविदूर इवेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने जो कुछ किया जिसका वर्णन 'अविदूर' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! समीप हो, इस प्रकार उसके पास जाकर, उस दुष्ट का शिर चूड़ामणि के साथ प्रभु ने एक मुक्की से तोड़ दिया ॥३१॥

सुबोधिनी—कियद्धावनेनैव स प्राप्तः । **अविदूरे** निकट एव । वस्तुतस्तु दूरे गतः, परं कालविलम्बाभावाद् अविदूर इवाभ्येत्य निकटे गत्वा, तस्य शिरो जहार । ननु पलायितवधो निषिद्धः, किमिति भगवान् क्लिष्टं कृतवानित्याशङ्क्याह **दुरात्मन** इति । स हि दुरात्मा वध्य एव । त्रयीद्विषो हि हन्यन्त एव । निमित्तं तु दारापहारित्वं जातमेव । अन्यथा पूर्वमेव हन्यात् । अधुना परित्यागे पुनरागच्छेत् । केवलनलभद्रक्रीडायां वा समागत्योपद्रवं कुर्यात् । यतो दुष्टान्तःकरणः, अतो वध्य एव । अतस्तस्य शिर एव ज्ञानशक्तिप्रधानं मुष्टिनैव जहार । न तु भेदनं कृतवान् । किन्तु यथा राशेः सकाशात् मुष्टिना तन्दुला ह्रियन्ते, तथा राशीभूतास्तस्यावयवा मुष्टिनैवाहृताः । यदैव स गोपिकाहरणार्थमुद्यमं कृतवान्, तदैव संयोजका देवा अवयवेभ्यो निर्गताः । केवलं मणिप्रभावादवयवी स्थितः । भगवान् पुनः चूडामणिसहितं तच्छिरो जहार । स्वकर्मणैव विशकलित इति भगवान् अक्लिष्टकर्मैव । किञ्च, **विभुः** समर्थः, मणेरपि सामर्थ्यं दूरीकर्तुम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कुछ दौड़ने के बाद भगवान् ने उसको पकड़ लिया । भगवान् ने उसको ऐसे पकड़लिया, जैसे कोई पास में खड़ा हो यद्यपि वह बहुत दूर चला गया था । पकड़ते ही उसके शिर का हरण कर लिया । जो भाग जावे उसके मारने का शास्त्रों ने निषेध किया है तो भगवान् ने वैसा निषिद्ध कार्य कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह दुष्ट था, दुष्ट मारने के ही योग्य है, चाहे वह भाग भी गया हो । त्रयी-वेद के शत्रु + मारने योग्य हैं । और स्त्रियों को चुरा ले जाने से शङ्खचूड़ का शत्रु होना स्पष्ट हो गया अतः उसको मारने में कोई दोष नहीं है । इस समय मारने का कारण स्त्रियों का हरण है, नहीं तो भगवान् इसको पहले ही मार देते । यदि अब इसको छोड़ दें तो फिर आकर, उपद्रव करें । जब अकेले बलभद्र क्रीड़ा करें, तब आकर उपद्रव कर सकता है कारण इसका अन्तःकरण दुष्ट है । अतः यह मारने के ही योग्य है छोड़ने योग्य नहीं है । इसलिए

+ वेद से द्वेष करने वाला मारने के योग्य है शङ्खचूड़ वैसा था अतः उसको मारने में कोई दोष नहीं है—

इसके ज्ञान प्रधान शिर को ही मुट्ठी से हरण कर लिया, किन्तु तोड़ा नहीं। जैसे धान के ढेर से मुट्ठी द्वारा चावल ले लिए जाते हैं उसी प्रकार ढेर बने हुए इसके अवयवों से मुट्ठी से इसका शिर ले लिया। सर्व अवयव आपस में जुड़े हुए रहते हैं उसका शिर मुट्ठी में अलग कैसे आ गया ? इसका उत्तर देते हैं, कि जिस समय शङ्खचूड़ ने गोपियों को चुराने का उद्यम किया उस समय ही अवयवों को परस्पर जोड़कर रखने वाले देव, शरीर के अवयवों से निकल गए थे, यह शरीर जो जुड़ा हुआ देखने में आता था वह केवल मणि के प्रभाव से दीखता था इसलिए भगवान् ने चूड़ामणि सहित इसके शिर का हरण किया। शङ्खचूड़ के अवयव तो, उसके अपने कर्म से छिन्न भिन्न हो गए, भगवान् तो जैसे सदैव अक्लिष्ट कर्मा हैं, वैसे अब भी रहे। भगवान् को किसी कर्म करने में परिश्रम नहीं होता है, कारण, कि समर्थ हैं अर्थात् मणि के सामर्थ्य को भी मिटा देने में समर्थ हैं ॥३१॥

आभास—एवं कृते स हतो जात इत्याह **शङ्खचूडं निहत्येति**।

आभासार्थ—इस प्रकार कार्य करने से अर्थात् चूड़ामणि वाले शंखचूड़ के मस्तक को हरने से, वह मर गया, जिसका वर्णन 'शंखचूड़ निहत्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम्।**
अग्रजायाददत्प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार शङ्खचूड़ का वध कर उसकी चमकती हुई मणि लेकर स्त्रियों के देखते हुए प्रेम से बड़े भाई बलदेवजी को दी ॥३२॥

सुबोधिनी– एवं प्रकारेण तस्य हननम्, न तु प्रकारान्तरेण। तस्य मुक्तिनिराकरणार्थं **निहत्यैवेत्युक्तम्**। मृतद्रव्यं न ग्राह्यमित्यत आह **भास्वरमिति**। 'अस्थानान्मण्युत्तम' मिति वाक्यात्। मणिग्रहणेन मणिगता देवता। ताः कामयतीति पक्षे कामना सफला कृता। मणिग्रहणेन तस्य मुक्तिर्देयेति शङ्कां वारयितुं अग्रजायाददत्। तत्रैव स्थित्वा देवताया अप्युपभोगो भवत्विति प्रीत्यैव अददत्, न तु याचितः। स्त्रीणां प्रार्थनाभावायाह **पश्यन्तीनामिति**। चकारात् सर्वाभ्यः प्रदर्श्य तासां स्पर्शानन्तरं योषितामन्येषां च देवानां पश्यतामिति। प्रमाणसिद्धचर्थं यत् किञ्चित् करोति, तत्सर्वं तदधिष्ठातर्येव प्रयच्छतीति ज्ञापितम्। प्रमाणबलमेवात्र मुख्यमिति न प्रमेयविचारेण कोऽप्यर्थः शङ्कनीयः ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम्।

व्याख्यार्थ—इसी प्रकार, भगवान् ने शङ्खचूड़ का वध किया अन्य प्रकार से नहीं। श्लोक में श्री शुकदेवजी ने 'निहत्यैव' इसलिए कहा है कि भगवान् की इच्छा थी, कि इसकी मुक्ति न हो। 'भास्वरम्' कहने का तात्पर्य यह है कि मृतक का पदार्थ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह अशुद्ध होता है किन्तु चमकवाला पदार्थ अपवित्र नहीं होता है, कारण, कि प्रकाश वाले पदार्थ में अधिष्ठाता देव

रहता है। अतः भगवान् ने मणि को शुद्ध + जानकर, ही लिया था। मणिग्रहण से मणिगत देवता समझना चाहिए। गोपियों की इच्छा थी, कि मणि लेनी चाहिए, अतः भगवान् ने मणि लेकर उनकी कामना पूरण की है। मणि लेकर उसको मुक्ति देनी चाहिए यों कोई कहे, तो उस शङ्का का निवारण करते हैं, कि भगवान् यदि अपने पास रखते वा अपने लिए ली होती, तो मुक्ति भी देते किन्तु अन्य के लिए ली थी अतः अन्य को (बड़े भाई को) दे दी। वह मणि प्रेम से बलरामजी को इसलिए दी, कि बलदेवजी मणि में स्थित देवता का भी स्वतन्त्रता से उपभोग करें। बलरामजीं ने मांगी नहीं थी और स्त्रियों ने भी प्रार्थना नहीं की थी, किन्तु भगवान् ने स्वयं उन सबके देखते हुए मणि बलरामजी को दी। श्लोक में 'च' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'और' उस और का आशय यह है, कि भगवान् ने बलदेवजी को मणि देने से, प्रथम सबको मणि दिखाई तथा उनको मणि का स्पर्श कराया, बाद में, उनको मणि दी। इस प्रकार करने का कारण प्रमाण की सिद्धि थी। भगवान् प्रमाण की सिद्धि के लिए जो कुछ करते हैं, वह सब प्रमाण के अधिष्ठाता को ही देते हैं। यों करने से, भगवान् ने यह समझाया है, कि मैं प्रमाण की सिद्धि के लिए जो कुछ करता हूँ, वह प्रमाण के अधिष्ठाता को ही देता हूं। इस प्रकरण में, प्रमाण बल ही मुख्य है इसलिए यहां प्रमेय बल से किसी भी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥३२॥

+ 'अस्थानात् मणिमुत्तमम्' अपवित्र स्थान में भी मणि पवित्र रहती है।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के ३१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस फल' अवान्तर प्रकरण का "श्री" धर्म निरूपक छठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

'सप्तभी अध्याय'

स्कन्धानुसार द्वात्रिंशो अध्याय

युगल-गीत

कारिका—**द्वात्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हरिः ।**
पूरयामास येनैव पूर्णानन्द इतीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस ३२ वें अध्याय में भगवान् ने गोपियों के अन्तःकरण में अपना आनन्द स्थापित किया जिसके कारण आपको पूर्णानन्द कहा जाता हैं ॥१॥

कारिका—**अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः ।**
पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिरः ॥२॥

कारिकार्थ—गोपीजनों के अन्तःकरण में प्रविष्ट भगवान् को मुख से बाहर लाकर पुनः कानों द्वारा अन्दर पधराया जा रहा है कि वे भलि भांति अन्दर सुस्थिर हो जाएं ॥२॥

कारिका—**शब्दार्थयोर्मुख्यतात्र युग्माः श्लोकास्ततोऽत्र हि ।**
सर्वेषु चैव मासेषु यत् करोत्युच्यते हि तत् ॥३॥

कारिकार्थ—इस अध्याय में शब्द एवं अर्थ की प्रधानता है अतएव दो-दो श्लोक यहां आते हैं (परस्पर संबद्ध होकर) वर्ष के सभी महिनों में जो कुछ भगवान् करते हैं उनका वर्णन यहां है ॥३॥

कारिका—**अतोऽत्र मासयुग्मा हि प्रक्रमः फलमेव च ।**
आद्यन्ते चापरं युग्मं त्रयोदश भवन्ति तत् ॥४॥

कारिकार्थ—अतः प्रत्येक मास के बारे में दो-दो श्लोक यों २४ श्लोक वर्णन तथा एक श्लोक उपक्रम एवं एक श्लोक उपसंहार यों कुल तेरह श्लोक युग्म होते हैं ।४।

टिप्पणीजी का सार—आनन्द की अनुभूति यद्यपि सर्वत्र आन्तरिक ही होती है फिर भी बाह्य रमण में शरीर एवं चेष्टाओं की प्रधानता है और इसके अलावा स्वरूप जब मूर्त है तो स्वरूपात्मक आनन्द भी मूर्त ही होना चाहिए यों मानना पड़ेगा फलतः शरीर एवं इन्द्रियों आदि में भी स्वरूपतः स्थापित आनन्द का मन द्वारा अनुभव होता है । यहाँ इस प्रसंग में आन्तर संयोग द्वारा प्रकट हुए आनन्द द्वारा शरीर इन्द्रिय आदि में बाह्य रमण की तरह धर्म होते हैं, इसी अभिप्राय से प्रथम कारिका में कहा कि गोपिकाओं के अन्तःकरण में भगवान् ने अपना आनन्द स्थापित किया । यहां यह शंका उठ सकती है, कि गोपिकाओं को जो इस प्रसंग में विरह है, वह तो धर्मिस्वरूप का है, धर्म का नहीं, तब गुणगान-धर्म से, वह विरह कैसे दूर होगा ? इसका समाधान यह है कि जैसे स्वरूप पूर्णानन्दात्मक है वैसे ही नामलीला भी, अतएव विरह निवृत्ति हो सकती है । भक्तों की जितनी तीव्रतर से तीव्रतम आसक्ति भगवान् अपने में पाते हैं, उतने ही प्रसन्न होते हैं, इस संदर्भ में दिन भर के विरह से आर्त भक्तों को जो सायं भगवान् मिलते हैं और उसमें जो रस उत्पन्न होता है वह दिन में मिलने पर नहीं आता, अतः जिस आनन्द से स्वयं भक्तों को भगवान् पूर्णानन्द समझ में आते हैं उसी तरह के आनन्द से भक्तों को परिपूर्ण कर दिया ।

यद्यपि गुणगान तो स्वभाव वश ही होता है, न कि, प्रयोजनान्तर वश, फिर भी गुणगान से प्रथमानुभूत भाव की स्थिरता तो होती ही है । अतः कारिका (२) में गुणगान का प्रयोजन भाव स्थिरता जो दिखलाया गया है वह इसी आशय से है न कि अन्यथा ।

भगवान् भावात्मक हैं तथा पहले जो सुधा नाद द्वारा गोपिकाओं में प्रविष्ट हुई वह भगवदात्मिका थी । इसका निरूपण "रन्ध्रान्वेणोरधर सुधया पूरयन्" यहां किया गया । फल का अनुभव बाह्य हो न जाए तब तक वह सुधा पुर्वोक्त प्रकार के अनुसार पुष्ट होती रही परन्तु अपने पोषक तथा विषय बहिःसंबन्ध को न पाकर उसे पाने के लिए स्वयं गुणगान के रूप में प्रकट हुई, परन्तु अपने बाहर होने के साथ ही, अन्तःकरण में प्रिय का साक्षात् प्राकट्य हो जाने से तथा बाहर प्रकट होने के बावुजूद भी, अपना विषय बाहर न पाने के कारण वहीं स्वयं अपने या अन्यों के कानों द्वारा

पुनः अन्दर प्रविष्ट हो गई, जहां उसे अपना विषय एवं पोषक मिल जाने से वह सुस्थिर हो गई। यही दूसरी कारिका का आशय है।

तीसरी कारिका में इस गीत को दो-दो श्लोकों के युग्म से क्यों गान किया इसका हेतु दिखलाते है।

पहले केवल नाद का अनुभव हुआ, अतएव नाद की प्रधानता को लेकर "अक्षण्वतां" का गान किया, परन्तु अब तो स्वरूप का अनुभव भी साक्षात् हो गया है अतः दोनों ही महारस हैं यह जताने के लिए दो श्लोकों से, किन्तु दोनों एक रूप हैं एतदर्थ एकवाक्यता से गान किया जा रहा है। यहां वर्ष में जितनी लीला प्रभु करते हैं उन सभी लीलाओं को स्वामिनियों ने क्रमशः गा दिया, यह जताने के लिए पूर्ण वर्ष के बारह महिनों के हिसाब से चोबीस श्लोकों के बारह युग्म कहे हैं। उपक्रम एवं उपसंहार के दो श्लोकों का युगल अधिकमास में भी भगवान् की जो लीलाएं हैं वे यहां स्वामिनियों द्वारा गा दी गई है।

आभास—एवं भगवता सह रात्रौ क्रीडामुक्त्वा, दिने तासां संसारप्रवृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य, दिवसेषु भगवद्गुणवर्णनपरा जाता इति वदन्, गुणवर्णनाया आवश्यकत्वाय आरम्भे दुःखं, पर्यवसाने सुखमिति निरूपयन्, प्रथम प्रथमप्रवृत्तावपि गोपिकानां दिवसेषु परमं दुःखं जातमित्याह **गोप्य** इति।

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के साथ रात्रि के समय जो क्रीड़ा हुई, उसका वर्णन करके एक शंका का समाधान करते हैं और वह शंका यह है, कि दिन में उन गोपियों की संसार में पुनः प्रवृत्ति हो गई होगी। परन्तु बात यह नहीं है, क्योंकि दिन में वे गोपियाँ भगवान् के गुणों के वर्णन या गान में लगी रही, संसार में नहीं। गुणों की स्मृति के लिए आरंम्भ में, विरह वेदना या दुःख आवश्यक है। इसी तरह अन्त में यह दुःख गुण वर्णन से दूर न होता हो तो कोई भी गुण वर्णन में प्रवृत्त नहीं होगा। गान के आरंभ में भी + महान् दुःख हुआ यह "गोप्यः" इस श्लोक में दिखाते हैं।

श्लोक–श्रीशुक उवाच—**गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।**
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, भगवान् जब बन में पधार जाते तब जिनका चित्त भगवान् में लीन हो गया था, वे कृष्ण की लीलाओं को गाती हुई दुःख से दिवस काटती थी ॥१॥

+ गान के आरंभ में भी महान् दुःख है तो यदि गान न करती तो कितना दुःख बढ़ जाता!

सुबोधिनी—केवलपदात् पूर्वोक्ता ग्राह्याः। सदानन्दे वनं गते तमन्वेव द्रुतं चितं यासाम्। वस्त्वन्तरग्रहणाक्षमं चित्तं जातम्। द्रुतशब्दाद्विलय उक्तः। ततः सर्वतः प्रसृतं सूक्ष्मभावापन्नं सदानन्दस्य लीलां गृहीतवत्। अतः कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो जाताः। यथा स्वरूपं सदानन्दरूपम्, तथा तल्लीला अपीति तदात्मकत्वं च लीलानां ज्ञापयितुं पुनर्नामग्रहणं कृतम्। अन्यथा तत्पदमेव वदेत्। तथा सति तत्सम्बन्धित्वमात्रं प्राप्येत, न तूक्तरूपत्वम्। अवश्यं वाच्यं चैतत्। यतः स्वरूपवियोगे तदतिरिक्तस्य न जीवनहेतुत्वम्, ततो हीनत्वात्। ततो यथाकथञ्चिन्महता मानसदुःखेन वासरान् निन्युः। यदा पुनस्तच्चित्तं प्रकीर्णे भगवच्चरित्रे विलीनं सद् एकभावं प्राप्स्यति, तदा पूर्णमनोरथा भविष्यन्ति। इदानीं सर्वा सामग्री विशकलितेति दुःखेन दिननयनम्। वासरपदाद् रात्र्यर्थं कथञ्चित् प्राणानां धारणं लक्ष्यते ॥१॥

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में केवल 'गोप्यः' कहा जिसका तात्पर्य यह है कि ये रासमण्डल वाली ही गोपिका हैं। अर्थात् ३१ वें अध्याय वाली ये गोपियां नहीं हैं। कृष्ण के वन में पधार जाने पर इनकी स्थिति कैसी होती है, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि गोपियों का चित्त उनमें ऐसा लीन हो गया, कि उनके सिवाय दूसरी वस्तु को ग्रहण करने में, असमर्थ हो गया है। और ऐसा सूक्ष्म हो गया है, कि जिससे चारों तरफ व्याप्त होकर भगवान् की लीलाओं को ग्रहण करने लगा, अतः कृष्ण की लीलाओं को गाने लगीं। जिस प्रकार स्वरूप सदानन्द रूप है, वैसे ही उनकी लीलाएं भी सदानन्द रूप ही हैं, इसलिए श्लोक में 'तल्लीला' उनकी लीला न कहकर 'कृष्णलीला' कहा है। यदि वे लीलाएं कृष्णवत् सदानन्द रूप न होती, तो 'तल्लीला' कहते। यों कहने पर लीलाओं का केवल भगवान् से सम्बन्ध समझा जाता परन्तु वे सदानन्द रूप हैं वैसा ज्ञान न होता। इसलिए यह कहना आवश्यक था, कारण, कि स्वरूप के वियोग में, उनके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ गोपियों के जीवन को टिका कर रखने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उससे अतिरिक्त सभी कुछ हीन हैं। इस कारण से, गोपीजन जैसे तैसे महान् मानसिक दुःखों को सहन करते हुए, दिन बिताने लगी। पुनः जब गोपियों का चित्त भगवान् के पृथक् चरित्रों में लीन होकर एकी भाव को प्राप्त करेगा, तब उनके मनोरथ पूर्ण होंगे। अभी तो सभी सामग्री इतस्ततः हो गई है, इसलिए दुःख से दिन पूरा करना है। श्लोक में 'वासर' पद कहने का भाव यह है, कि गोपियों के मन में यह आशा है, कि रात्रि को भगवान् का मिलन होगा, जिससे प्राणों को धारण कर रही हैं ॥१॥

कारिका—सर्वोत्तमा हरेर्लीला वेणुनादपुरःसरा।
हेतुः सर्वत्र वाच्येऽर्थे प्रथमेषु निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—गोपीजनों ने युगल गीत के श्लोकों में जो कुछ जैसा वर्णन किया है, उसका आशाय इन कारिकाओं में वर्णित होता है।

भगवान् ने वेणु नाद (बजा) कर, जो सर्वोत्तम लीला की है, जिसका कारण प्रत्येक युगल के दूसरे श्लोक में कहा है, तथा उस लीला का वर्णन प्रत्येक युगल के प्रथम श्लोक में किया है ॥१॥

कारिका—**देवस्त्रियस्तथा गावः सरितः पादपा लताः ।**
पक्षिणश्च तथा मेघा ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा ॥२॥
हरिण्यो देवगन्धर्वा द्विधा च भगवान् हरिः ।
उत्तरेषु निरूप्यन्ते रसज्ञा वेणुवादने ॥३॥

कारिकार्थ—अप्सराएं, गौ, नदियां, वृक्ष, लताएं, पक्षीगण, मेघ, ब्रह्मा आदि देव, गोपियां, हरिणियां, देव गन्धर्व और दो प्रकार से दो युगल में वर्णित भगवान् हरि, ये सर्व वेणूवादन में जो रस है उसको जानते हैं, जिसका वर्णन हर एक युगल के दूसरे श्लोक में किया गया है ॥२-३॥

कारिका—**जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयम् ।**
अतोऽन्ते भगवानुक्तो वारद्वयमनन्यधीः ॥४॥

कारिकार्थ—चतुर्थ कारिका में अन्तिम दो युगलों का आशय स्पष्ट करते हैं—वेणुनाद के वास्तविक रस को तो भगवान् ही जानते हैं, स्वयं हरि ही जानते हैं, अतः अन्त में अनन्य भक्तों की बुद्धि जिसमें है वैसे भगवान् का दो बार वर्णन किया है ॥४॥

कारिका—**अनुभावस्तु नादस्य स्त्रीषु पूर्वमुदीर्यते ।**
त्रिविधासु ततः पुंसु ब्रह्मा गोपी तथा मृगी ॥५॥
त्रयोऽत्र त्रिविधाः प्रोक्ताः प्रकीर्णाः सकलाः सुराः ।
सर्व एवानभिज्ञा हि वस्तुसामर्थ्यसंयुताः ॥६॥
एवं वेणुर्द्विदशधा फलतीति निरूपितः ॥

कारिकार्थ—नाद का प्रभाव तो प्रथम तीन प्रकार की स्त्रियों में हुआ जिसका वर्णन पहले किया जाता है, पश्चात् तीन प्रकार के पुरुषों में वर्णन किया जाता है, तथा ब्रह्मा, गोपी और हरिणियां इन तीनों का भी वर्णन करने में आता है । ये तीन यहां तीन × प्रकार के कहे हैं, सभी देवों का साथ ही वर्णन करने में आया है । यद्यपि ये सर्व नाद रस को नहीं जानते हैं, तो भी वस्तु सामर्थ्य से, अर्थात् नाद के प्रभाव से, उनको भी फल की प्राप्ति हुई है ॥५-६॥

× देव स्त्रियां राजस हैं, पुरुष वृक्ष, पक्षी और मेघ ये सात्विक हैं और ब्रह्मा गोपी और हरिणियां तामस हैं ।

इस प्रकार वेणु १२ प्रकार से फलती है इसी प्रकार इसका वर्णन इस गीत में करने में आया है ॥ ६½ ॥

लेख में गो० श्री वल्लभलालजी महाराज कहते हैं कि भगवान् में दो दो प्रकार के भी नियम हैं, एक षड् गुण ऐश्वर्य हैं अतः वे भगवान् कहे जाते हैं और दूसरा ताप को हरण करते हैं अतः वे 'हरि' हैं—

भगवान् ही इस रस को जानते है अतः गोपीजनों को जो दिवस में ताप होता था, उसका निवारण कर, रसदान भगवान् ही करते हैं, इस ताप को चन्द्र आदि नहीं मिटा सकते हैं, इसलिए भक्तों को सर्व प्रकार की आशीर्वाद देने की इच्छा से आप स्वयं पधारते हैं, कारिका में 'एव' शब्द से यह स्पष्ट कर बताया है, कि चन्द्रमा आदि यहां कुछ नहीं कर सकते हैं, अर्थात् उनमें इस ताप के निवृत्ति की शक्ति नहीं है।

भगवान् तो बालक हैं, वह इस साधरण लीला को समझकर कैसे कर सकेंगे ? इस शङ्का का निवारण 'यदुपति' इस २५ वें श्लोक में किया गया है, अतः कारिका में कहा है, कि 'जानात्येव' जानते ही हैं, यहां 'एव' शब्द देकर, यह बता दिया है, कि भगवान् बालक होते हुए भी उनमें बालक-पन का अज्ञान नहीं है, दोनों प्रकार के नियम भगवान् में हैं अतः दो बार 'भगवान्' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् का वर्णन २३ वें तथा २५ वें श्लोक में पृथक् पृथक् प्रकार से किया है।

आभास—तत्र प्रथमं स्त्रीप्राधान्याद् देवस्त्रियो मुख्या इति तासु वेणुनादप्रभावं वक्तुं येन प्रकारेण वेणुनाद उत्तिष्ठति, तं प्रकारमाहुः **वामबाहुकृतवामकपोल** इति।

आभासार्थ—इनमें प्रथम स्त्रियों की प्रधानता है, जिससे देव स्त्रियां मुख्य हैं, अतः उनमें वेणुनाद का प्रभाव बताने के लिए जिस प्रकार वेणुनाद उत्पन्न होता है, वह प्रकार 'वाम बाहु कृत' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्।**
कोमलाङ्गुलिभिराश्रित मार्ग गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥२॥
व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे गोपियों ! बाएं कंधे पर बायां कपोल रखकर चंचल भौंह वाले, मुकुन्द भगवान्, वेणु को अपने अधर पर रख, जिस समय उसके स्वरों के छिद्रों पर कोमल अङ्गुलियों को फिराकर बजाते हैं, उस समय, विमान में बैठी हुई सिद्ध लोगों की स्त्रियां अपने पतियों के पास होते हुए भी, उस गान को सुनकर, विस्मय

युक्त हो, कामदेव के बाण से परवश होकर, उस वेणुनाद के भाव को जानकर, लज्जा के साथ मोह को प्राप्त हुई हैं और उनका नीवी बन्धन[1] छूट जाने का भी उनको भान नहीं रहा है ॥२-३॥

सुबोधिनी—यत्र मुकुन्दः अधरार्पितवेणुमीरयति, तत्र तस्मिन् क्षण व्योमयानवनिताः कश्मलं ययुरिति सम्बन्धः। वेणुनादः पञ्चधा भवति। मुखस्य परितः समतया उपर्यधश्च धारणेन। तत्र स्त्रीणां कामोद्बोधकः वामपरावृत्तः। स्त्रीणां पुरुषाणां च दक्षिणः। देवानामुच्चैः। अधस्तिरश्चाम्। समतया सर्वेषामचेतनानां च। तत्र देवस्त्रीणां कामोद्बोधको वामपरावृत्त एवेति तथा निरूप्यते। मानुषभावाद्वेभावो महानिति मानुषनादेन देवस्त्रीणां भ्रमो न भविष्यतीत्याशङ्क्य, 'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य' मिति वाक्याद्, भ्रूविलासं नादे योजितवान्। तदाह। वामबाहौ कृतो योजितो वामकपोलो येन। वल्गिता भ्रूर्यस्येति। भ्रूरत्र दक्षिणा। तथैवाभिनयभावात्। वल्गिता उच्चैर्गतियुक्ता। अधरः पूर्वं वर्णितः लोभात्मकः। तत्र चेत्समर्पितः, परमानन्दं न प्रयच्छति। काममेवोद्बोधयति। यतः श्रुत्वापि विरहजनितक्लेशमेव प्राप्नुवन्ति, न तु परमानन्दम्। तत्रापि क्रियाशक्तिः पुष्टा चेद् भवेत्, तदा लुब्धादपि फलं सिध्येत्। तदपि नास्तीत्याह। कोमलाङ्गुलिभिराश्रितो मार्गो यस्य। आदौ मन्दप्रकारेणैव वेणुनादस्योचितत्वात्। मार्गास्तस्य रन्ध्राः। तेषां गाढभावेन निष्पीडने तारो नादो भवति। मध्यभावे मध्यमः। कोमले मन्द इति। **गोप्य** इति सम्बोधनं सर्वानुभवसाक्षिकमेतदिति ज्ञापयितुम्। ईरणमत्र वादनम्। प्रयोजनमाह **मुकुन्द** इति। वेणुनादेन शुद्धं चेत् जगत्, तदा मोक्षं दास्यामीति। एवं हितार्थेऽपि वेणुवादने, ये मोक्षानधिकारिणः, तेषां काम एव जात इत्याहुः **व्योमयानवनिता** इति। व्योमयानाः विमानयानाः सर्वे देवयोनयः तेषां वनिताः। अधिकारित्वात् स्त्रीत्वाद् भोग्यत्वाच्च न मुक्त्यधिकारिण्यः। सिद्धैः सहिता अपि। भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वमेव दातुं समर्थाः। स्वयमत्यन्तं गाने निपुणाः। आदौ वेणुनादं श्रुत्वा विस्मिता जाताः। ततोऽल्पकामोद्रेके तद्वेणुनादमुपधार्य सलज्जा जाताः। भर्तारो ज्ञास्यन्तीति। ततोऽत्यन्तमुद्रेके स्वात्मरक्षार्थं कामेन मरणशङ्क्या काममार्गणेभ्यः समर्पितं चित्तं याभिस्तादृश्यो जाताः। यथा मारकाय मारणात् पूर्वं स्वयमेव समर्प्यते भीरुभिः। ततः कामेन पीडिताः कश्मलं मूर्च्छां ययुः। सा मूर्च्छा अत्यन्तविस्मारिकेत्याह। अपस्मृता नीवी कटिवस्त्रं याभिरिति। एवं वेणुनादोऽत्यन्तं कामबोधक इत्यस्माकं मूर्च्छादौ किमाश्चर्यमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ—जिस समय मुकुन्द भगवान् अधर पर धरे हुए, वेणु को बजाते हैं, उसी क्षण में, विमान में बैठी हुई देव स्त्रियां मूर्च्छा को प्राप्त हो गईं, इस प्रकार शब्दों का सम्बन्ध है।

वेणु का नाद पांच प्रकार से होता है—मुख के (१) दांये और (२) बाएं दोनों तरफ (३) मुख के सामने, (४) मुख के ऊपर की तरफ और (५) मुख के नीचे की तरफ। बाएं धारण किया हुआ वेणु स्त्रियों में काम को जागृत करता है। दाहिनी तरफ धारण किया हुआ वेणु, स्त्री तथा पुरुष

१—नाड़ा

दोनों में काम को उत्पन्न करता है। ऊपर की तरफ वाला वेणु देवों में काम को जगाता है। नीचे की तरफ वाला वेणु, पशु पक्षियों में काम को उत्पन्न करता है। सीधा धारण किया हुआ वेणु, सब चेतनों और जड़ों में भी काम को उद्भूत[1] करता है। इस पांच प्रकार से धारण किए हुए वेणुओं में से, जो वेणु बाएं धारण किया हुआ है वह वेणु स्त्रियों के काम को जागृत करता है, इसलिए उसी प्रकार वर्णन किया जाता है। मानुष भाव से देव भाव महान् है, इसलिए मनुष्य के नाद से देव स्त्रियों को भ्रम नहीं होगा, इस प्रकार की शङ्का निवृत्त करने के लिए श्लोक में 'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्' पद दिया है, जिसका भाव यह है, कि भगवान् ने अपना भ्रूविलास जो कि ब्रह्मा का स्थान है, उसके साथ अर्थात् नाद के साथ मिला दिया। यही वर्णन इस श्लोक में किया गया है। भगवान् ने अपनी वामबाहु पर अपना वाम कपोल रखा और फिर दायीं ओर की भोंह चंचल हो उठी। 'वल्गिता' यानि ऊपर की उठ गई। पूर्व वर्णित लोभात्मक अधर पर धरा हुआ वेणु परमानन्द न देकर काम को ही प्रबुद्ध करता है। जैसे लोभी, परमानन्द रूप धन के मिलने पर उसे किसी को नहीं देता है किन्तु कामनाओं को ही जगाने के लिए संभालता है, वैसे लोभात्मक अधरों से वेणुनाद को सुनकर वे गोपीजन विरह से उत्पन्न क्लेश को ही पाती हैं न कि परमानन्द को, यदि क्रिया शक्ति बलवती होवे, तो लोभी से भी फल प्राप्ति[2] हो सकती है। यहां वह क्रिया शक्ति भी बलवती नहीं है, अर्थात् वेणु को उच्च स्वर से बजाया जाए तो उस वेणु से भी परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है परन्तु यहां वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि कोमल अङ्गुलियों ने नाद प्रकट होने के मार्ग में जो छिद्र हैं उनको रोक रखा है। आरंभ में वेणुनाद मन्द प्रकार से करना ही उचित है। नाद के निकलने के मार्ग, जो छिद्र, हैं उनको गाढ भाव से दबाने पर ध्वनि जोर से ऊंची निकलती है, मध्य प्रकार से दबाने पर मध्य ध्वनि निकलती है, कोमलता से अङ्गुलियें चलावे तो नाद मंद मंद प्रकट होता है।

हे गोपियों ! तुमने यह नाद सुना है, जिससे तुमको इसका पूर्ण अनुभव है, इसलिए तुमको साक्षी रूप में रखकर हम वर्णन करती हैं। 'इरण' यानि वेणु वादन इस वेणु नाद का प्रयोजन बताने के लिए भगवान् का नाम 'मुकुन्द' दिया है अर्थात् भगवान् की इच्छा है, कि वेणुनाद से जगत् शुद्ध हो जाए तो उसको मोक्ष दे दूं।

भगवान् वेणु का नाद जगत् के हितार्थ करते हैं, किन्तु जो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, उनका चित्त शुद्ध नहीं होता है जिससे उन अनाधिकारियों में, काम ही प्रकट हुआ है। विमानस्थ सभी देवों की स्त्रियां वैसी ही अधिकारिणी हैं, कारण कि स्त्रियां हैं भोग्य हैं जिससे मुक्ति की अधिकारिणी नहीं हैं, किन्तु काम की ही अधिकारिणी हैं। वैसे तो वे स्त्रियां अपने पति देवों के साथ थी परन्तु वे पतिदेव सभी कुछ दे सकने में समर्थ थे सिवाय भगवान् के। स्वयं गान में अत्यन्त निपुण हैं अतः प्रथम यह वेणुनाद सुनकर, आश्चर्य में पड़ गई, कि इस प्रकार सुन्दर नाद मनुष्य लोक में किसने किया है ? उस नाद से जब थोड़ा सा काम बढ़ा, तब फिर उस नाद को पूरी तरह ध्यान देकर सुनने लगीं, जिससे समझ गईं, कि यह नाद किसका है और कैसा है, अतः वे लज्जित होने लगीं। क्योंकि हमारा काम बढ़ रहा है पति समझ जाएंगे तो क्या कहेंगे ? किन्तु अन्त में विचार कर समझ

१—पैदा, २—परमानन्द की प्राप्ति

गईं, कि यह काम तो हमारा नाश ही करेगा, अतः जैसे ड़रपोक मारने वाले की शरण लेता है वैसे ही इन्होंने भी कामरूप भगवान् की शरण ले ली। काम के वेग से, वे मूर्च्छित हो गईं। मूर्च्छा में सर्व विस्मृति हो जाती है, भान नहीं रहता है, जिससे उनको अपने नीवी बन्धन के टूट जाने का भी ध्यान न रहा अर्थात् नीचे का वस्त्र भी गिर गया।

इस प्रकार वेणुनाद काम को अत्यन्त जागृत करने वाला है जिससे हम (अपन) गोपीओं को मूर्छा प्राप्त हो तो उसमें कौनसा आश्चर्य है ! ॥२॥३॥

आभास—गवामपि वेणुनादेन तथा जातमिति वक्तुं प्रकारान्तरेण वेणुरवोद्गम-माहुः **हन्त चित्रमिति**।

आभासार्थ—गौओं की भी वेणुनाद के सुनने से वही दशा हुई जैसी देव स्त्रियों की हुई थी अतः वैणुरव के उद्गम का ही वर्णन अब अन्य प्रकार से 'हन्तचित्रं' इस श्लोक युग्म में करती हैं—

श्लोक—**हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।**
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ॥४॥
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥५॥

श्लोकार्थ—(युग्मार्थ) हे अबला ! यह अचम्भा तो सुनो, हार के समान उज्वल हास्य वाले, आर्तजनों को आनन्द देने वाले, वक्षस्थल पर जिनके विद्युत स्थिर है ऐसे नन्द पुत्र जब वेणु बजाते हैं, तब उसकी ध्वनि से, झुण्ड के झुण्ड व्रज के बैल, मृग और गायों का चित्त हरण हो जाता है जिससे वे सब, दांतों से चर्बित कौल (कवल) को यों ही रख, कान ऊंचे कर, मानों नींद लेते हों और चित्र में लिखे हुए हों ऐसे हो जाते हैं ॥४–५॥

सुबोधिनी– हे अबलाः, इदमाश्चर्यं शृणुत। यर्हि नन्दसूनुः कूजितवेणुः, तर्हि वृषा गावो दन्तदष्टकवला निद्रिता आसन्निति सम्बन्धः। कामः पशुषु सजातीय एव, नोत्कृष्टे नापकृष्टे। अश्वतरे त्वन्यैव व्यवस्था। हीनेषु महतो रमणार्थं सम्बन्धोऽपि रसाभासजनकः। अतः सम्भोगलक्षणं कामं निराकृत्य पशुष्वत्यावश्यकं भक्ष्यं निरुणद्धि। पूर्वोक्तं वामबाहुकृतवामकपोलत्वमनुवर्तते। तत्रैवावान्तरभेदो वक्तव्यः। हन्तेति खेदे। यत्र गवामपि सर्वक्रियानिवृत्तिः,

---

टिप्पणीजीः—यह परोक्षवाद है क्योंकि यहां संदर्भ गोपिजनों का है। अतः शुद्धि का मतलब है भगवद्-भाव के अलावा अन्य किसी भी भाव का न रहना। इसी तरह मोक्ष का मतलब है भजनानन्दानुभव।

तत्रास्माकं न निवर्तते इति चित्रम्। पूर्वापेक्षयाप्युत्कृष्टम्। देवस्त्रियो हि पुरुषोत्तमे कामुक्यो भवन्त्येव। इदं त्वत्याश्चर्यमिति। **अबला** इति सम्बोधनं गत्वा दर्शनाभावाय। इदं मया प्रोच्यमानं शृणुत। अत्र गोपिका नवविधाः। गुणातीते प्रकारत्रयमिति। कर्मज्ञानभक्तिभिः। वक्तृव्यवस्थैषा। प्रथमा राजस्यः। इयं राजसराजसी। अपेक्षितं पूर्वं सर्वमेवानुवर्तते सर्वत्र। आदौ भगवतः स्वरूपं शृणुतेति। तं चतुर्धा वर्णयति। हारवत् हासो यस्य। उरसि स्थिरा विद्युद् यस्य। नन्दस्य च सूनुः। आर्तजनानां सर्वेषामेव नर्मदः। तत्र हेतुरयमिति। अन्यथेदानीमग्रे प्रकटो न भवेत्। द्वितीये मुहूर्ते निर्गच्छन्तं बालक्ष्याह। तदा प्रतिमुहूर्तं युगलानि भवन्ति। सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तरेण द्वादशैव मुहूर्ता इति सोमोत्पत्तौ निर्णयः। अन्येषां हास्यं किर्मीरितं भवति, रज्जुवत्। भगवतस्तु दन्तानां कान्त्या विभक्तो हासः मुक्ताहारवद् भवति। यथा रत्नैर्व्यवहिता मुक्ता इति। अनेन जगतः प्रपञ्चे मोहजनकत्वं स्थिरीकृतम्। स्नेहकलाभिर्माया विभक्तेति श्रुतार्थापत्तिरर्थनिरूपणे मूलं सर्वत्र। यथा दृष्टे नानुपपत्तिः। दृष्टानुसारेणैव सर्वं व्यवस्थाप्यते। 'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाता'दिति। लौकिकानामेषा व्यवस्था। सर्वथा दृष्टविरोधो नाङ्गीक्रियत इति। तथा वैदिकानां श्रुतिः। यावतैव बोध्यमानः पदार्थः स्थिरीभवति, तावांस्तदनुगुण उच्यत इति सर्वत्रैवैषा व्यवस्था। न केवलं संसारे पुत्राद्यासक्तिमेव स्थिरीकरोति, किन्तु धनासक्तिमपीत्याह। स्थिरा लक्ष्मीर्यत्रेति। एवं प्रमाणबलनिराकरणार्थं द्वयं विधाय प्रमेयबलनिराकरणार्थं द्वयं कृतवानित्याह। यतोऽयमेव नन्दस्य सूनुर्जातः। आर्तानां च स्वयमागत्य सुखं प्रयच्छति। परिदृश्यते च तथेति च प्रमाणम्। नहि महानेवं करोति। अतः इदमाश्चर्यम्। एतमेवार्थं प्रकटीकुर्वन् कूजितवेणुर्भवति। अथवा। पूर्वापेक्षया अधोवक्त्रलीलया वेणुर्वाद्यते। हारवद्धासो यस्मिन् उरसि। तस्य स्थिरता विभागस्थैर्यं चाश्चर्यम्। श्रीवत्सोप्यत्युत्कृष्ट इति शोभार्थं तस्य स्थिरत्ववर्णनम्। तादृशस्य नन्दसूनुत्वे स्नेहो वर्धते। तत्रापि स्वोपकारक इति। कूजितत्वं वादनविशेषधर्मः। सर्वेषामान्तरं प्राणधर्ममप्याकर्षति। यत्र पशूनामपि प्राणादिधर्महारी, तत्रान्येषां किं वक्तव्यमिति पशूनां निरूपयति। एकस्य तथात्वं हेत्वन्तरसिद्धमपि भवेत्। अत उक्तं **वृन्दश** इति। समूहशः। यत्रैव वेणुनादः प्रविष्टः, तेषां सर्वेषामित्यर्थः। व्रजस्थिता वृषाः ककुद्मिनो मत्ताः। उत्सृष्टवृषा इव शकटादिनेतारः। ते व्रजसमीप एव तिष्ठन्तीति ग्राम्यपशूपलक्षणार्थं व्रजपदम्। मृगा गावश्चारण्ये मिलिता भवन्ति। आरण्या ग्राम्याश्चैवं भवन्तीति ज्ञापनार्थं मृगपदम्। किं बहुना सर्व एव पशवो वेणुवाद्येन कृत्वा हृतचेतसो भवन्ति। नापि भगवत्समीपगमने समर्थाः। किन्तु हृतचेतसो दूरादेव भवन्ति। अनेन वेणुनादस्य स्वाभाविक एवायं धर्मो, न तु भगवत्समीपकृत इति। कवलास्तृणरूपाः, केवलं दन्तैर्दष्टाः, न त्यागे, न च भक्षणे समर्थाः। दन्तदंशमात्रेण प्रयत्नो निवृत्त इति नादस्येतरकार्यनिवर्तकत्वमुक्तम्। पूर्वक्रियाया अत्यावश्यकत्वाय कवलपदम्। देवस्त्रीवन्मूर्च्छानिवृत्यर्थमाह **धृतकर्णा** इति। अन्यत् सर्वं परित्यज्य कर्णमेव साधनं धृतवन्तः। ततो बाह्यान्निवृत्ता इत्याह **निद्रिता** इति। ततो नादेन सर्वतो व्याप्ताः। लिखितं गवादीनां चित्रमिव पश्चात्ते जाताः। स्थावरापेक्षयापि स्थिरा जाताः। पूर्वोक्तार्थादधिकोर्थ इति चित्रता ॥५॥

व्याख्यार्थ—ओ अबलाओं ! यह आश्चर्य सुनो। जब नन्द के पुत्र वेणु बजाते हैं, तो बैल और गायों के दाँतों में दबाए हुए तृण कवल यूं ही रह जाते हैं, और वे निद्रा मग्न हो जाते है। पशुओं को अपनी खुद की जाति में ही काम उत्पन्न होता है, अपने से उत्तम अथवा निम्न जातियों में नहीं।

खच्चर यहां अपवाद है। उच्च जातीय यदि निम्न जातीय के साथ रमणार्थ संबन्ध स्थापित करते हों तो वह रसाभास माना जाता है अतः संभोग रूप काम को दूर रख कर (अर्थात् रखे बिना) पशुओं के लिए अत्यावश्यक तृण भक्षण से उन पशुओं का निरोध करते हैं।

द्वितीय श्लोक में कहे गए वामबाहु कृतवाम कपोलों (अर्थात् भगवान् ने अपना बांया गाल बांए ओर की बाहु पर रखा है) वर्णन का संबन्ध यहां भी चालू है। उसी के अवान्तर भेद का वर्णन यहां होना है।

'हन्त' पद का प्रयोग खेदाभिव्यक्ति के लिए हुआ है। जहां गायों की भी सभी क्रियायें बन्द हो गई तो भी हमारी बन्द नहीं होती, यह एक आश्चर्य है। पहले के श्लोकों में वर्णित आश्चर्य से भी उत्तम प्रकार का आश्चर्य यह है। क्योंकि देवताओं की स्त्रियां पुरुषोत्तम की तो कामना वाली होती ही हैं, परन्तु यह पशुओं की तल्लीनता तो अति आश्चर्य की बात है।

स्वयं पशुओं की तरह वन में जाकर दर्शन नहीं कर पा रही हैं, अतः 'अबला' कह कर पुकारती हैं और कहती हैं, कि मैं जो कहती हूं वह सुनो।

यहां नौ तरह की गोपिकायें गुणवाली हैं तथा कर्म ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा तीन प्रकार गुणातीत गोपियों के हैं। यह व्यवस्था श्लोक युग्म कहने वाली गोपियों के बारे में है। पहली तीन गोपियां राजसी हैं। यह इस श्लोक वाली गोपिका राजस राजसी हैं। यहां बात पूरी करने के लिए जो अंश अपेक्षित है उसे पहले कहे गए श्लोकों में से लेकर यहां भी जोड़ लेना चाहिए और यही बात आगे श्लोकों में भी समझनी चाहिए। अब पहले भगवान् के स्वरूप का वर्णन सुनाती हैं। उसे चार तरह से वर्णित करती हैं (१) भगवान् का हास्य हार जैसा है, (२) भगवान् के वक्ष स्थल पर विद्युत स्थित है, (३) ये नन्द के पुत्र हैं (४) सभी आर्तजनों को आनन्दित करने वाले हैं। इस तरह भगवान् के होने में हेतु है 'अयम्' अर्थात् जो इस तरह के भगवान् न होते, तो हमारे सामने प्रकट ही न होते। अथवा दूसरे मुहूर्त में प्रकट हुए भगवान् को देखकर यह कहा जा रहा है। इस कल्प में प्रत्येक मुहूर्त में, श्लोकों के युग्म होते हैं अर्थात् गाये जाते हैं। प्रातःकालीन सन्ध्या एवं सायं कालीन सन्ध्या के बीच में केवल बारह मुहूर्त होते हैं यह सोम की उत्पत्ति के प्रसंग में निर्णीत किया गया है।

और लोगों का हास्य धागे की तरह एक सार होता है, परन्तु भगवान् का हास्य तो मोतियों के हार की तरह है अर्थात् जैसे मानिक के रत्नों के बीच-बीच मोतियों को पिरोकर बनाया हुआ जैसे शोभता है वैसी ही शोभा भगवान् के हास्य की है। इस तरह भगवान् जगत् में प्रपंच के बारे में, मोह उत्पन्न करते हैं, यह स्थिर हुआ। "स्नेह की कलाओं से माया छितरा जाती है" यह श्रुतार्थापत्ति के आधार पर सर्वत्र पदार्थ का निरूपण हो रहा है। जैसे स्पष्ट दिखलाई पड़ती हुई वस्तु के बारे में कोई भी अनुपपत्ति मान्य नहीं होती प्रत्युत सारी कल्पनायें उसी यथा दृष्ट वस्तु के आधार पर की जाती है, जैसा कि कहा गया है, "नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाताद्" अर्थात् जो जैसे दिखलाई पड़ रहा है, वहां भी अनुपपत्तियां सोचने पर व्यवहार छिन्न भिन्न हो जाएगा। यह व्यवस्था लोक में मान्य है, इसी तरह वैदिकों के लिए श्रुति है। जितनी अपेक्षा पदार्थों के बोध के स्थिर होने के लिए हैं उतना श्रुत्यनुकूल कहा जाता है। यही व्यवस्था वैदिकों की सर्वत्र है।

संसार में जिन्हें पुत्र आदि में आसक्ति है, उनकी आसक्ति को अपने में केवल स्थिर करते हों यह बात नहीं है, किन्तु जिन्हें धन में आसक्ति है उनकी आसक्ति भी भगवान् अपने में स्थिर कर लेते हैं, यह "उरसि स्थिर विद्युत" अंश कहा जा रहा है। अर्थात् (विद्युत् जैसी चंचला) लक्ष्मी भी जहां स्थिर अचंचल होकर रहती है।

इस तरह प्रमाण बल के निराकरण के लिए "हारहासः" एवं "स्थिर विद्युत्" ये दो विशेषणों के वर्णन के बाद, प्रमेय बल के निराकरण के लिए जो दो कार्य किए उन्हें दिखलाते हैं।

क्योंकि, यही भगवान् नन्द के पुत्र हुए हैं तथा आर्तों को भी स्वयं आकर सुख प्रदान करते हैं यहां भी वही श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है, क्योंकि वैसा ही यहां भी दिखलाई पड़ रहा है। महान् पुरुष कभी ऐसा नहीं करते, अत, यह आश्चर्य है। इसी अर्थ को प्रकट करते हुए भगवान् वेणुवादन करते हैं। अथवा पहले की अपेक्षा मुखारविन्द को नीचे झुका कर वेणु बजाते हैं और तब ऐसे दर्शन होते हैं, कि भगवान् के वक्षस्थल पर हार की तरह हास्य शोभायमान होता है। इसकी स्थिरताएवं विभाग स्थैर्य आश्चर्य है। श्रीवत्स भी अत्यन्त उत्कृष्ट है, अतः शोभा के लिए उसकी स्थिरता का वर्णन है। इस तरह के भगवान् जब नन्द के पुत्र बनते हैं, तो उनमें स्नेह बहुत बढ जाता है। और वहां भी अपने पर उपकार करते हों तो पूछना ही क्या ? सभी के आन्तर प्राण धर्म को भी यह आकर्षित करता है। कूजन एक बजाने का प्रकार है। जब यह वेणु कूजन पशुओं के प्राणादि धर्म का हरण करता है, तो फिर, अन्यों को तो बात ही क्या है। यह दिखलाने के लिए पशुओं को निरुपण करते हैं। एकाध के तो किसी अन्य कारण से, हो सकते हैं परन्तु यहां तो यह स्थिति समूह के समूह की है। जहां-जहां वेणुनाद प्रविष्ट सभी की यह दशा हो गई। व्रज में रहने वाले बैल तो खुले भटकने वाले बडे ककुद्म वाले मत्त बैल के जैसे होते हैं, जिन्हें गाड़ी में जोता जाता है। वे व्रज के समीप ही रहते हैं, अतः गांव के पशुओं को लेने के लिए 'व्रज' पद कहां है। मृग एवं गाय अरण्य में मिल जाते हैं। यह स्थिति ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं की हो जाती है, यह जताने के लिए 'मृग' पद है। कहां तक कहा जाए सभी पशु वेणुवादन से 'हृतचेतस' हो जाते हैं। यहां तक भगवान् के समीप जा नहीं पाते। दूर ही खड़े-खड़े अपने चित्त को खो बैठते हैं।

यह वेणुनाद का स्वाभाविक धर्म है, न कि भगवान् के समीप होने से चित्त का हरण हुआ है चित्त हरण से क्या हुआ ? वह बताते हैं कि पशुओं के मुख में जो तृण रूप कौल (ग्रास) था उसको केवल दान्तों से चबाया था अब चित्त हरण हो जाने से न उसको छोड़ सके और न खा सके। नाद, श्रवण से चबाया हुआ कौल, वहां ही रह गया, मुख खुल गया कोई भी कार्य न कर सके। पूर्व क्रिया अर्थात् मुख में आए पदार्थ को चबाना अत्यावश्यक है, इसलिए पशुओं ने तृण को चबाया था जिससे तृण न कह कर श्लोक में 'कवल' अर्थात् कौल कहा है। जैसे देव स्त्रियों को मूर्च्छा आई, वैसे इनको मूर्च्छा नहीं आई थी इसलिए श्लोक में 'धृतकर्णा' कहा है अर्थात् अन्य सर्व विचार छोड़ कर केवल वेणुनाद सुनने की इच्छा की, जिससे कानों को ऊंचा कर लिया। उस श्रवण से बाह्य वृत्ति उनकी मिट गई, नीन्द शेते हों वैसे देखने में आए जब नाद सर्वत्र शरीर में फैल गया, तब चित्र में चित्रित जैसे बन गए यों दीखने में आए, मानों स्थावर से भी विशेष स्थावर बन गए। वेणुनाद के प्रथम प्रभाव से भी यह प्रभाव जो पशुओं पर पड़ा वह विशेष था अतः कहा कि आश्चर्य है ॥४-५।

टिप्पणीजी का आशय—भगवान् में हमारा स्नेह हो जाए तो माया अपने सभी रूपों में दूर हो जाती है, यह प्रमाण बल की व्यवस्था है। और इसी मायाकार्य प्रपंच मोह के स्थिर होने पर, भगवत्स्नेह नहीं रह पाता। परन्तु प्रमेय बल से भगवान् भगवत्स्नेह एवं प्रपंच मोह दोनों साथ-साथ चला रहे हैं। अतएव भगवान् में स्नेह रखने वाले व्रज मण्डल के जीवों का जगत् भी विषय रूप प्रपंच में मोहित है। यह भी एक आश्चर्य है। और इस बात को कहते हुए खेद होता है, जिसे मूल में "हन्त" से ध्वनित किया। भगवान् में जिन्हें राग है उनका अन्यत्र राग दिखलाई पड़ने पर भक्तों को खेद होना आवश्यक है। परन्तु भगवान् यह मोह उत्पन्न न करें, तो भक्त स्नेह वश सभी कुछ छोड़-छाड़ कर भगवान् के पास पहुँच जाएं तो उनके साथ लोक में लीला असंभव हो जाएगी अतः भगवान् का द्विविध राग उत्पन्न करना आश्चर्य है।

टिप्पणी जी का आशय—विद्युत् एवं लक्ष्मी दोनों ही चंचला होने के कारण 'विद्युत' पद से धन में तात्पर्य है। ऐसी विद्युत को अपने में स्थिर रख कर प्रपंच में आसक्ति रखने वाले को भी भगवान् अपने में बरबस आसक्त कर लेते हैं। इस तरह प्रपंच में प्रपंच विषयक मोह को स्व विषयक बनाना भी एक आश्चर्य है।

आभास—वेणुनादेन नदीनामतिजडानामपि स्पृहा जायत इति वक्तुं पुनर्वेणुनादं वर्णयन्ति **बर्हिण** इति।

आभासार्थ—वेणु के नाद से बहुत जड़ + नदिओं को भी इच्छा △ होती है, यह बताने के लिए फिर वेणुनाद का वर्णन 'बर्हिणः' श्लोक में करती हैं—

श्लोक—**बर्हिणः स्तबककधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।**
कर्हिचित् सबल आलि सगोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥६॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥७॥

श्लोकार्थ (युग्मार्थ)—हे सखि! किसी समय जब मुकुन्द भगवान् मोर पिच्छ के गुच्छ, धातु तथा पत्तों से मल्ल का शृङ्गार कर, बलभद्र, गोप और गोपियों के साथ मिल गायों को वेणुनाद से बुलाते हैं तब नदियां पवन की प्रेरी हुई भगवान् के चरणारविन्द के रज की इच्छा करती हैं, जिससे उनकी गति बन्द हो जाती है, किन्तु वे भी अपनी तरह कम पुण्य वालियाँ हैं, उससे रज को प्राप्त नहीं कर सकती हैं, केवल प्रेम से तरंग रूप हस्तों को चलाती हुई स्तब्ध जल वाली हो जाती हैं ॥६-७॥

+ प्रथम कहे हुए पशु जड़। मूर्ख। है क्योंकि उनको लीला का विशेष ज्ञान नहीं है किन्तु नदियां उनसे भी विशेष जड़ हैं कारण कि जिनको कुछ भी ज्ञान नहीं है।

△ भगवान् के चरणारविन्द के रज की इच्छा।

सुबोधिनी—आवेशो देववेशश्च पूर्वं निरूपितौ। लीलावेशोऽधुना निरूप्यते। निरन्तरक्रिया हि नदीनाम्। चेतनानां तु निद्रामूर्च्छादौ क्रियानिवृत्तिरपि दृष्टा। नदीनां नु न कदापि निवर्तते इति। तत्रापि महतीनाम्। बन्धोऽपि न तासां भवति। सापि वेणुनादेन निवृता। बर्हिणो मयूरस्य। स्तबकाः गुच्छकाः पिच्छगुच्छानि। धातवो गैरिकादयः। पत्राणि च। धातूनां वा पत्राकारेण लेखाः। कमलपत्राण्यपि आकारार्थं बध्नन्त इति। तैः कृत्वा मल्लानां परिबर्हैः अलङ्करणं वेश इति यावत्। स्वयं स्तबकादिभिः बद्धो योऽयं मल्लपरिबर्हैः तं विडम्बयति। विडम्बो वा बद्धः। अस्वाभाविकं विडम्बनमेव भवति। नटमल्लवत्। अनेनायं नादो नृत्योपयोग्येव निरूपितः। तेन क्रियाशक्तिरुद्गता नादस्था निरूपिता नदीनामाकर्षे हेतुर्भवति। कर्हिचिदिति। यदोत्साहः क्रियाशक्तौ। अत एव **सबलः** बलभद्रसहितः। **आलीति** सम्बोधनं गोप्यतयायमर्थो निरूपितः, अप्रतारणार्थं च। प्रायेणैषा तदा दर्शनार्थं गतवती स्नानादिव्याजेन। एवं सामग्रीं विधाय सोऽस्माकं भोक्ता वस्तुतो वा जातो वा, तादृशो गोपैः सहितः। अनेनात्र वैकुण्ठस्थितलीला सूचिता। अत्रापि लक्ष्मीरस्माभिः सहिता रात्रौ, गोपैः सहिता दिवसे तिष्ठतीति। अत एव सम्बोधनं रहस्यसूचकम्। तदा गाः समाह्वयति, वेणुनादेनैव, प्रकरणित्वात्। वेणुनाह्वयतीत्यग्रे वक्ष्यति। वेणुतुल्यतया निरूपणार्थं वा वेणोरग्रहणम्। गवामाह्वाने हेतुः **मुकुन्द** इति। मोक्षो हि ताभ्यो देय इति स्वतस्तासां साधनाभावादाकार्य प्रयच्छति। स्वरसं वा तत्र स्थापयितुम्। उद्गता क्रियाशक्तिर्महदेव कर्म करोतीति गवामाकारणमुक्तम्। तत्र योगार्थं ज्ञात्वा नद्योऽपि नित्यं गच्छन्तीति ताः स्थगिता जाता इत्याह तर्हीति। तत्क्षणमेव भग्नगतयो जाताः। नहि भगवदाज्ञा केनाप्युल्लङ्घ्या भवति। **सरित** इति प्रवाहैकस्वभावत्वं निरूपितम्। तासां वैष्णवत्वकामना। तासां हि समुद्रोऽधिपतिः। यथा भगवान् पतिर्भूयात्, तदर्थं तत्पदाम्बुजरजः स्पृहयतीजाताः। स्पृहयन्त्यः। रजसः सम्बन्धार्थमुपायमाह **अनिलनीतमिति**। अनिलेन वायुना स्वार्थं नीतम्। तेन सह प्रत्यासत्तिः। जलार्थी सः। भगवदीया एव भगवत्सम्बन्धं प्राप्नुवन्तीति रजःकामना दूराभिप्राया। काम एवात्रोद्देश्यः देवतात्वान्नदीनाम्। अत एवाग्रे कालिन्दी तथा भविष्यति। इदानीं तथाभावे भाग्यं नास्तीत्याह **अबहुपुण्या** इति। न बहु पुण्यं यासाम्। यथा शीघ्रमेव गोरूपत्वम्, गोपालरूपत्वं दिवसे, रात्रौ स्त्रीरूपत्वमिति। पुण्यैर्विना समीहितार्थसिद्ध्यभावात्। कथं ज्ञायते तासामेवंभाव इति तत्राह **वयमिवेति**। यथा वयं अबहुपुण्याः। अन्यथा दिवसे गावो गोपा वा भवेम। अतः स्वदृष्टान्तेन ज्ञायते स्पृहामेव कुर्वन्ति, न तु तासां कार्यं सिध्यतीति। किञ्च तासां सात्विकभावादपि हृद्गतो भावो लक्ष्यत इत्याहुः **प्रेमवेपितभुजा** इति। प्रेम्णैव भुजानां वपेनम्, न तु वायुवशात्। अतो विरहसन्तापयुक्ता इव लक्ष्यन्ते। किञ्च। स्तम्भोऽपि जात इत्याहुः **स्तिमिताप** इति। स्तिमिताः स्तब्धा आपो यासाम्। एवं रजोभेदास्त्रिविधा निरूपिताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—पहले आवेश और फिर देववेश का वर्णन किया गया, अब लीलावेश का वर्णन किया जा रहा है। नदियों की क्रिया सदा-सर्वदा चलती ही रहती है क्योंकि निद्रा, मूर्छा आदि में चेतन प्राणियों की क्रिया तो बन्द होती देखी जा सकती है, परन्तु नदियों की क्रिया तो कभी भी बन्द नहीं हो सकती और उसमें भी बड़ी नदियों की क्रिया तो कभी बन्द हो ही नहीं सकती है और न उन्हें बांधा जा सकता है। परन्तु ऐसी नदियों की क्रिया भी वेणुनाद से बन्द पड़ गई। मोर के पूंछ के गुच्छ, गेरू आदि धातु और पत्ते अथवा पत्तों की आकृति जो इनसे लिखी गई होती है

क्योंकि कमल के पत्ते भी इस तरह के वेश के लिए बांध लिए जाते हैं। इन सारे पदार्थों से मल्लों का परिबर्ह यानि अलंकार वेश बनाया गया है। मयुरपिच्छ के गुच्छ से जो यह मल्लवेश होता है उसका भगवान् स्वयं अनुकरण करते हैं, अथवा मल्लोंका अनुकरण किया जा रहा है, क्योंकि, नाटक के मल्ल की तरह अनुकरण अस्वाभाविक होता है। इस तरह नृत्य के वेश के अनुकरण का जो वर्णन किया उससे नृत्य में उपयोगी नाद का ही वर्णन हुआ। 'कर्हिचित्' यानि कभी, जब कि क्रिया शक्ति में उत्साह होता है। इसीलिए भगवान् को 'सबल' कहा गया है अर्थात् भगवान् बलभद्र के साथ हैं। यह बात गुप्त रखने की है और किसी को भ्रान्ति भी न हो जाए इसलिए 'आलि' यह संबोधन किया गया है। + प्रायः यह युगल कहनेवाली गोपी नहाने के बहाने गई होती है। इस तरह सामग्री संपन्न करके भगवान् स्वयं जो हमारे भोक्ता हैं या हो जाते हैं ऐसे कभी ही गोपों के साथ होते हैं। इससे यहां वैकुण्ठ स्थित लीला की सूचना मिलती है। यहां भी लक्ष्मी हमारे साथ रात्रि में अन्तरंग गोपों के साथ साथ दिन में रहती है अतएव 'आलि' संबोधन रहस्य सूचक है।

बाद में भगवान् वेणुनाद द्वारा गायों को बुलाते हैं। आगे भी कहा जाएगा, कि "वेणुना ह्वयति" अर्थात् वेणु से गायों को बुलाते हैं। परन्तु यहां 'बुलाते हैं' कहा, न कि 'वेणुनाद द्वारा बुलाते हैं' यों कहा, उसका कारण यह है, कि भगवान् वेणु के समान ध्वनि से बुलाते हैं अतः वेणु-द्वारा बुलाते हैं यों नहीं कहा। गायों को भगवान् बुलाते हैं, क्योंकि स्वयं मुकुन्द हैं—उन्हें मोक्ष तो देना ही है*[1] परन्तु उनके पास साधन नही है अतः उन्हें बुलाके दे देते हैं। अथवा अपना रस वहां भी स्थापित करना है इसलिए बुलाते है।[2] जब क्रियाशक्ति प्रकट होती है, तो बड़े-बड़े कार्य ही करती हैं एतदर्थ कहा, कि गायों को बुलाते हैं। 'गो' शब्द की रूढ़ी गाय में है, परन्तु यह शब्द बनता है 'गच्छति' से अतः नदियों ने रूढ़ीवाले अर्थ के बजाय यौगिक अर्थ को लेकर यद्यपि स्वयं के अहर्निश चलते रहनेवाली होने पर भी भगवान् बुला रहे हैं यों सोचकर स्थगित हो गई क्योंकि भला भगवान् बुलाते हों, तो फिर कौन जा सकता है ? 'सरित' पद से उनका बहते रहना यह स्वभाव है यह सूचित किया। परन्तु अब इन्हें वैष्णव होने की कामना हुई है। इन नदियों का पति समुद्र है इसलिए बहती रहती हैं, परन्तु अब इन्हें भगवान् को अपना पति बनाना है, भगवान् के चरण कमलों को रज ही अब इन्हें चाहिए इसलिए रुक गई। परन्तु वह रज कैसे मिल सकती है ? उसके मिलने का उपाय यही है, कि वायु जिस चरण-रज को अपने स्वार्थ से लेकर उड़ती है और जिस वायु को जल की कामना है, उससे संबन्ध स्थापित किया जाए। भगवदीयों का ही भगवान् से संबन्ध हो पाता है तथा भगव-

---

+ **लेख का आशय:**—अर्थात् बलभद्र के साथ तो भगवान् कभीकदास ही होते हैं और इसी तरह कभी कदास गोपों के साथ भी, परन्तु वैसे तो, एकान्त में जब भी होते हैं तो अपने साथ ही हैं। इस तरह रमण सामग्री का सूचन किया गया है।

* **टिप्पणीजी का आशय**—(१) यहां मोक्ष अन्य कुछ नहीं, केवल भगवान् के दर्शन का सुख जो मिलता है, उसे मोक्ष कहा जाता है।

(२) स्वरूप के रस का ज्ञान पशुओं को स्वतः संभव नहीं है, अतः भगवान् अपने प्रयत्न से कराते हैं।

दीयता आती है चरणरज की प्राप्ति से। अतः बड़ी दूर की बात सोचकर नदियों को "रजःकामना" हुई है। नदी भी तो देवता हैं, अतः इनका यहां उद्देश्य काम ही है। अतएव आगे चलकर कालिन्दी भी वैसी हो जायगी। किन्तु अभी तो ऐसा लाभ हो जाए ऐसे भाग्य नहीं हैं यह "अब हुपुण्या" से बताते हैं। भगवत्कृपारूपी पुण्य का संचय इनका अभी पर्याप्त नहीं हुआ है। पुण्य ऐसे, कि दिन में शीघ्र ही ये गाय, गोपाल बन जायें और रात्रि में स्त्री बन जायें। और पुण्य बिना, इच्छानुसार सारे कार्य सिद्ध नहीं हो पाते। परन्तु नदियों की यही इच्छा है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

गोपीजनों का उत्तर है:–जैसे हम अपने स्वयं के बारे में, जान पाती हैं। जो हमारा पुण्य संचय बहुत होता, तो, दिन में हम गाय या गोपाल बन सकती थी और रात्रि में स्त्री। अतः जैसे हमारे पुण्य पर्याप्त नहीं हैं, वैसे ही इन नदियों के भी पर्याप्त नहीं हैं, अतः बड़ी-बड़ी स्पृहा करती रहती हैं परन्तु उनसे कार्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

इसके अलावा इनके सात्विक भाव से भी हृद्गत भाव समझे जा सकते हैं, जिस सात्विक भाव से उत्पन्न प्रेम से इनकी भुजाएं कांप रही हैं यह कम्पन, वायु के कारण नहीं है, अतः विरह ताप से युक्त दीखने में आती हैं, और जल भी स्थगित हो गया है, इस प्रकार रजोगुण के तीन भेद वर्णन किए हैं।।६–७।।

आभास—सत्त्वभेदान् निरूपयितुं भगवन्तमपि तथा वर्णयन्ति **अनुचरैरिति** त्रिभिः लताविहङ्गममेघाः सात्विकाः। एते वेणुनादेन भक्तिपूर्णा जाताः। तत्र प्रथमं वृन्दावनस्था लतास्तरवश्च वैष्णवाः वेणुनादेन उद्गतप्रेमरसा जाता इति तदर्थं प्रकारान्तरेण वेणुनादमाह। तदर्थं प्रकारान्तरेण भगवानपि वर्णनीयः। स च भक्त्यनुसारेण, लोकवेदानुसारेण च वर्णनीयः। तत्र भक्त्यनुसारेण प्रथममाह।

आभासार्थ—'अनुचरैः' इन तीन श्लोकों से लता, पक्षी और मेघ इन तीन सात्विकों का वर्णन करती हैं, तथा भगवान् के भी पृथक् पृथक् लीला करने योग्य रूप तथा नाद का उसी प्रकार वर्णन करती हैं। ये तीन[1] वेणुनाद सुनकर भक्ति से पूर्ण हो गए। उनमें भी प्रथम वृन्दावन में स्थित लता तथा पेड़ वैष्णव हैं, जिससे वेणुनाद सुनते ही उनमें प्रेम रस उद्भूत हुआ अतः उनके लिए वेणुनाद दूसरे प्रकार से हुआ एवं इसीलिए भगवान् का भी प्रकारान्तर से वर्णन करना चाहिए। वह वर्णन भक्ति, लोक तथा वेद के अनुसार होना चाहिए, उनमें प्रथम भक्ति के अनुसार वर्णन करती हैं––

श्लोक—अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ।।८।।
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः समृजुः स्म ।।९।।

१––लता, पक्षी और मेघ,

श्लोकार्थ—युग्मार्थ-सेवकों ने जिसके वीर्य का श्रेष्ठ प्रकार से वर्णन किया है और जो आदि पुरुष नारायण के सदृश अचल लक्ष्मीवाले हैं एवं जो वन में फिर रहे हैं वैसे भगवान् जब पर्वतों के तटों में चरती हुई गायों को बन्सी की ध्वनि सुनाके बुलाते हैं, तब वन की लता तथा वृक्ष अपने अंदर विष्णु विराजते हैं, यह प्रकट करने के लिए, अपने को फल तथा पुष्पों से भरपूर करते हैं, जिससे उनकी शाखाएं भार से बहुत नम जाती हैं और प्रेम से जब वे रोमांचित हो जाते हैं तब उनमें से मकरन्द की धाराएं बहने लगती हैं ॥८-९॥

सुबोधिनी—अनुचरैः सेवकैर्गोपैः सम्यगनुवर्णितानि वीर्याणि यस्य । आदिपूरुष इव पुरुषोत्तम इव च अनुचरैर्वेदैः सम्यक् सर्वोत्तमत्वेन वर्णितानि जगत्कर्तृत्वादीनि वीर्याणि यस्य । लोकानुसारेण महात्म्यमाह सर्वोत्कृष्टं **आदिपूरुष इवाचलभूति**रिति । अचला विभूतिर्लक्ष्मीर्यस्य । अनुचरैः सर्वैरेव देवादिभिस्तथोक्तः । लौकिकाः स्वव्यवहार्यत्वात् पुरुषोत्तमतुल्यतामेवाहुः । अतो दृष्टान्तभावः । भिन्नतया वर्णनायां हेतुमाह **वनचर** इति । वृन्दावनचरः सात्त्विकभावापन्नः सत्त्वभूमौ प्रतिष्ठित इति, गिरितटेषु गिरिप्रान्तेषु चरन्तीः विषमस्थानात् समदेशे पशुहिते स्वयं तत्रत्यो भूत्वा समाहृवयति, लौकिकत्वाभावाय वेणुनैवाहृवयति । वेणुद्वारा तत्र प्रविष्ट इति अग्रिमचरित्रेण ज्ञायते । अन्यथा वृक्षाणां तथात्वं न स्यात् । स इति येषु वनप्रदेशेषु रेमे, यदैवाहृवयत्, तदैव मधुधाराः ससृजुः स्मेति सम्बन्धः । युक्तश्चायमर्थः । अन्यथा वेणुनादाभिज्ञता तत्र च स्वनामसङ्केतो न स्यात् । अतस्तद्द्वारा भगवान् प्रविष्ट इत्यग्रेऽपि तथात्वं युक्तमेव ।

वनस्था लताः अस्मन्निकटे भगवांश्चरति स्वकीयांश्चाकारयतीति ज्ञात्वा तेषां भोगसिद्धचर्थं स्वस्मिन् विद्यमानमानन्दं प्रकटितवत्यः । तथा तरवश्च । यथा स्त्रियः पुरुषाश्च भगवदीयाः भगवति भगवदीयेषु च समागतेषु आनन्दयुक्ता भवन्ति, भोगार्थं स्वकीयं च प्रयच्छन्ति, तद्वदेतेऽपि । नन्वयं धर्मो जङ्गमानाम्, न स्थावराणामिति चेत्, तत्राह **आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य** इति । चेतनेष्वेव भगवतः क्रियाज्ञानशक्त्योराविर्भावः । सच्चिदानन्दरूपता च क्रमेणाविर्भवति । एतत् सर्वं भगवति निविष्टे भवति । सोऽपि निविष्टश्चेत् प्रकटीभवति तदेवं युज्यत इति । ते वृक्षादयः पञ्चधर्मयुक्ताः आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव जाताः । तत्र प्रथमं क्रियाशक्त्याविर्भावमाह **पुष्पफलाढ्या** इति । यत्र हि भगवान् निविशते, तत्रावान्तरफलं परमफलं च भवति । अतः कार्याद्वयञ्जयन्त्य इव जाताः । पुष्पाण्यवान्तरफलरूपाणि । परमफलानि तु फलानि । तैः सर्वैराढ्या जाताः । भगवदर्थं सदाधिक्यमाह **प्रणतभारविटपा** इति । भारेणापि नम्रं सम्भवतीति तन्निरासायादौ प्रणतत्वमुक्तम् । प्रकर्षेण नताः भारेण विटपाः शाखा येषाम् । **प्रेमहृष्टतनव** इति चिदुत्कर्षो ज्ञानरूपो निरूपितः । भक्ता एव हि प्रेम्णा हृष्टरोमाञ्चा भवन्ति । (पूर्वमहरितानामपि तदा हरितत्वं, पूर्वस्मात् स्थौल्यं प्रत्यवयवमुच्छूनत्वं प्रभाविशेषश्चात्र प्रेमहृष्टतनुत्वम् । अपरं च । वेणुनादनिष्ठसुधास्वादवत्यः स्वामिन्य इति तद्धर्म परिचिन्वन्ति ता एवेति तदुक्तावन्यविचाराक्षमत्वं युक्ततरमिति नाधिकं लेखनीयमत्र ।) मधुधाराः स्वस्मिन् विद्यमानानन्दं भगवदर्थं बहिः प्रकटितवत्यः । एतत्सर्वपरिज्ञानमेव ज्ञानशक्तिः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ--वेदों ने आदि पुरुष पुरुषोत्तम के रूप में भगवान् के जगत् को रचने आदि के महान् वीर्य का वर्णन किया है।[1] वैसे ही गोप बालक जो यहां भगवान् का अनुचरण कर रहे हैं, भगवान् के वीर्य का अनुवर्णन करते हैं[2]। लोक के अनुसार माहात्म्य दिखलाती[3] हैं "आदि पुरुष इवाचलभूतिः" अर्थात् आदि पुरुष की तरह जिनके पास चंचला-लक्ष्मी अचल हो जाती है। जिन्होंने भगवान् का अनुचरण किया है, ऐसे सभी देवता आदिओं ने भगवान् का वर्णन इसी रूप में किया है। लोक में भगवान् के बारे में व्यवहार संभव हो एतदर्थ पुरुषोत्तम से समानता ही बता रहे हैं (न कि ये स्वयं ही पुरुषोत्तम हैं यह) अतः पूर्ण पुरुषोत्तम नन्दराय कुमार की चर्चा में भी पुरुषोत्तम का दृष्टान्त संगत हो जाता है। पुरुषोत्तम एवं नन्दराय कुमार में जो भेद जैसा मानकर वर्णन किया जा रहा है उसका कारण बताते हैं, कि पुरुषोत्तम ही यहां, क्योंकि वनचर-वृन्दावन विहारी* हो गए हैं अतः सात्विक भाव वाले एवं सत्व भूमि पर प्रतिष्टित हो गए हैं। किन्तु तावता लौकिकता नहीं समझनी चाहिए क्योंकि वेणुद्वारा भगवान् पर्वतों पर घूमती हुई गायों को नीचे समतल भूमि पर बुला रहे हैं। वेणुद्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हो गए हैं, यह आगे वर्णित होनेवाले चरित्र से जाना जा सकता है। क्योंकि वेणुद्वारा भगवान् यदि वहां प्रविष्ट न हुए हों, तो वृक्षों की यह स्थिति संभव न हो पाती, कि वे अपने में विष्णु का भान करा पाए। जिन वनों में भगवान् ने रमण किया वहां जैसे ही भगवान् ने बुलाया वैसे ही उन्होंने मधु धाराएं बहाई। यह बात ठीक ही तो है, क्योंकि अन्यथा वेणुनाद को जान पाना और फिर उसमें भी अपने नाम को पहचान सकना संभव न हो पाता। अतः वेणुनाद द्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हुए हैं यह बात माननी चाहिए, अतएव आगे भी इसी तरह के वर्णनों की संगति बैठ जाती है।

वन की लताएँ हमारे निकट भगवान् विचरण कर रहे हैं तथा अपनों को बुला रहे हैं यह जानकर उनके लिए भोग सिद्ध करने के लिए अपने में रहा हुआ आनन्द प्रकट करने लगी। इसी तरह वृक्षों ने भी किया। जैसे भगवदीय स्त्री पुरुष उनके पास भगवान् या भगवदीयों के पहुँचने पर प्रसन्न होते हैं तथा सभी कुछ अपना उन्हें निवेदित कर देते हैं वैसे ही, इन्होंने-वृक्षोंने भी किया। यदि कोई कहे, कि यह तो जंगम प्राणी कर सकते हैं, स्थावर प्राणी नहीं, तो उसका उत्तर देते हैं "आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य" अर्थात् वे लताएं अपने में विष्णु को अभिव्यक्त कर रही थी। चेतन प्राणियों में ही भगवान् की क्रिया शक्ति एवं ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है, पश्चात् क्रमशः सच्चि-दानन्द भी वे ही बनते हैं। यह अभी कुछ भगवान् के निविष्ट होने पर होता है और वह भी निविष्ट होकर जब भगवान् प्रकट होते हैं तभी। वे वृक्ष आदि पांच धर्मों का△साथ पाकर अपने में भगवान् विष्णु को प्रकट करनेवाली जैसे हो गए।

इनमें प्रथमतया क्रियाशक्ति का आविर्भाव "पुष्पफलाढ्या" से कहते हैं। जहां-जहां भगवान्

---

१ वेदानुसारी वर्णन २ भक्ति के अनुसार वर्णन ३ लोक के अनुसार वर्णन। "लेख"

* **टिप्पणी जी का आशय**--वृन्दावन रसोद्दीपक है, अतः रस-शास्त्रीय स्तंभादि सात्विक भाव यहां संभव हैं जब कि आदि पुरुष के रूप में वह संभव नहीं अतः भेद मानकर भी वर्णन हो सकता है।

△ दृष्टव्य भाग. १०।१९।३२

निविष्ट होते हैं, वहां-वहां अवान्तर फल और परम फल उपलब्ध हो ही जाते हैं, अतः कार्य से कारण को जताने लगी। पुष्प अवान्तर फल हैं तथा फल परम-फल हैं। इन सभी से वे भरपूर हो गई। भगवदर्थ इनमें "सदाधिक्य" + है यह "प्रणतभारविटपा" से दिखलाया जा रहा है। झुकना तो भार के कारण भी संभव है, किन्तु प्रणत होने के लिए भार आवश्यक नहीं है। वृक्ष प्रणत थे तथा उनकी शाखाएं भारावनत थी। इनके शरीर प्रेम के कारण हृष्ट हो रहे थे। यह "चित् का उत्कर्ष" दिखलाया क्योंकि भगवद्ज्ञान ही चित् का उत्कर्ष है। भक्त प्रेमवश हृष्ट एवं रोमांचित होते रहते हैं (पहले ये हरे हरे नहीं थे किन्तु बाद में हुए, कुछ स्थूल भी हो गए, इनके प्रत्येक अवयव फूल से गये, एक चमक सी आ गई, यही बातें इनके शरीर प्रेमहृष्ट हो गए इसका लक्षण है। दूसरी बात यह है कि वेणुनाद में जो सुधा है उसका स्वाद तो स्वामिनियां ही जानती हैं अतः उन धर्मों को ढूंढनेवाली वे ही हो सकती हैं अतः उनकी उक्तियों का विचार अन्य नहीं कर सकते अतः अधिक कहां तक लिखा जाये* ? मधुधारा अपने में विद्यमान आनन्द है तथा उसे भगवान् के लिए बाहर प्रकट किया। इस सबका परिज्ञान ही ज्ञानशक्ति है ॥ १ ॥

आभास—पक्षिणामपि वेणुनादकार्यं जातमिति तत्रोपयोगिरूपं वेणुनादं च वर्णयन्ति **दर्शनीयतिलक** इति। यद्यपि पक्षिणो मुनयः, न तेषां गीतादिना भगवद्भावो भवति, किन्तु स्वभावत एव, तथापि लोकदृष्ट्या कदाचिदन्यथाबुद्धिर्भवेत्, अतो रूपनादाभ्यां तेषां भजनसिद्धिर्निरूप्यते। तत्र रूपं वर्णयति **दर्शनीयतिलक** इति।

आभासार्थ—पक्षियों पर भी वेणुनाद का प्रभाव पड़ा यह दिखाने के लिए उनको उपयोगी जो वेणुनाद का रूप है उसका वर्णन करती हैं "दर्शनीयतिलक" से। पक्षी यद्यपि मुनि हैं अतः गीता आदि से उन्हें भगवद्भाव नहीं अपितु स्वभाव से ही है, फिर भी लोकदृष्टि से कभी अन्यथा बुद्धि हो सकती है अतः रूप एवं नाद द्वारा उनकी भजन सिद्धिका निरूपण करते हैं, वहां रूपवर्णन "दर्शनीय तिलक" में किया गया है—

श्लोक—**दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुललीमधुमत्तैः।**
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि कुजितवेणुः ॥१०॥
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ सुन्दर रूप वालों के मुकुट रूप भगवान्, वनमालाओं में दिव्यगन्धवाली तुलसी के मकरन्द से मत्त भौंरों के ऊंचे तथा अनुकूल गान को मान देते

+ लेख—सत्पुरुष हरि के दर्शन होने पर प्रणत हो जाते हैं।

△ इस तरह (१) सदाधिक्य (२) चिदुत्कर्ष (३) आनन्द प्रकट करने से सच्चिदानन्दता दिखलाई।

*—यह गुसाईजी का लेख है।

हुए, जब मुरलीनाद करते हैं, तब तलाव में सारस, हस और अन्य पक्षी उस सुन्दर गान से मोहित चित्त होके वहां आकर आंखों को मूंद कर, मौन धारण कर, चित्तको नियमित कर, भगवान् की सेवा करते हैं ॥१०–११॥

सुबोधिनी—दर्शनीयानां मध्ये तिलकरूपोऽति-सुन्दरः। पक्षिणश्च रूपप्रधानाः, रूपभेदविदः। किञ्च। यो वेणुनादः स स्वहितकारी, स्वकीया-नामपराधमपि न मन्यते। तदाह। वनमालादि-व्यगन्धतुलसीमधुमत्तै रलिकुलैः कृतमलघुगीत-मपि आद्रियन्, आदरं कुर्वन्न व कूजितवेणुर्यतः। यथैव भ्रमरा झङ्कारं कुर्वन्ति, तथैव तन्नादमनु-कुर्वन्न व अनुरणनवदेव वेणुनादं करोति। पक्षिणां मध्ये अलयो हीना निकृष्टाश्च। तेषामपि कुलानि समूहाः नानाविधजातिभेदाः। तैरप्यलघु यथा भवति तथा गीतम्। तस्याप्यादरं कुर्वन्। तत्राप्यलयो मत्ताः। मदोऽपि येनानुचितः। नहि तुलसी पुष्पान्तरवन्मादहेतुः। तत्रापि दिव्यगन्धा। तत्रापि भगवद्वनमालागता। तेषामप्यादरं चेत् कुर्यात्, तदा सरोवरादिषु ये सरसा रसिकाः क्षीरनीरविवेकिनश्च तेषामादरं कथं न कुर्यादिति। वनमालायाः या दिव्यगन्धतुलसी तस्या मकरन्देन मत्तैः। किञ्च। आदरोऽपि भ्रमराणां यथाभीष्टं भवति, तथा वनमालायां समागतान् भ्रमरान्न दूरीकरोति। किन्तु ते यथा नोपद्रुता भवन्ति, तथैवादरं करोति। अतो यद्यैव आदरं कुर्वन्न व कूजितवेणुः, तदैव सरसि विद्यमानाः जलवासिनः **सारसाः** सरसानां भक्तानां सम्बन्धिनः, **हंसाः क्षीरनीरविवेकिनः** ते च विहङ्गा उत्कृष्टगतियुक्ताः, पुरुषापेक्षया ते पुनर्भगवद्भजनाधिकारिण इति तान् विशिनष्टि **चारुगीतहृतचेतस** इति। चारु यथा भवति निःकामार्थं भगवद्गीतेनैव हृतं वशी-कृतं चित्तं येषाम्। तदपि भजनं भक्तिमार्गानु-सारेण। न तु स्थानस्थितानामन्तर्यामिरूपे ज्ञान-रूपे वा। तदाह। **एत्य** आगत्य **हरिं** उप समीपे सेवमाना जाताः। यतस्ते भगवदुक्ता मुनयः। भजने भ्रमराद्विशेषमाह **यतचित्ता** इति। यतं नियतं चित्तं येषाम्। चित्तनैयत्येन भगवद्भजनं मुख्यम्, न तु विक्षिप्तचित्ततया। किञ्च। **हन्त** इति हर्षे। एतद्भाग्यमेतेषामेव भवतीति। बहि-र्व्यापाररहिता भजने सर्वोत्तमाः। बहिर्व्यापारेषु च नेत्रे वाक् च नियम्याः। यस्यैतद्वयं नियतम्, वाक् नान्यं वदति, चक्षुश्च नान्यत् पश्यति, तदाह **मीलितदृशो धृतमौना** इति। मीलिता दृग् येषाम्। धृतं मौनं व्रतं यैः। साम्प्रतमेते नादपराः। अतो दृष्ट्या अन्यचित्तता भविष्यतीति नेत्रनिमीलनम्। एवमेतेषां भाग्यं सात्त्विकत्वान्निरूपितवत्यः।

(अथवा। **दर्शनीयतिलक** इति। इदमत्रा-कूतम्। अतिरसिका एते मुनयः, स्वस्य पुरुषत्वेन लीलायामनुपयोगं मत्वा, पक्षीभूय, विविधस्व-कूजनैर्भगवतो भक्तानां च रसोद्दीपनं कुर्वन्तः, स्वकृतार्थतां मन्वानाः, शब्दमेवाधिकमभीष्टं मन्यन्ते। अतः शब्दप्रधानकीर्तिरूपवनमालाधर्मा-णामेवात्रोपयोग उच्यते। 'यथा वृक्षस्य सम्पु-ष्पितस्य दूरादृगन्धो वात्येवं पुण्यकर्मणो दूरादृगन्धो वाती'ति श्रुत्या कीर्तेर्गन्धसाम्येन निरूपणं कृतम्। वनमालायाः कीर्तिरूपत्वात् तन्निरूपकाणि गीतान्यावश्यकानि। तानि च तद्रसास्वादं विना न सम्भवन्त्यतो गुणातीतभक्तिरूपवक्ष्यमाणरूप-गन्धवती तुलसी, तन्मध्वत्यलौकिकभक्तिरसात्मक-मितरविस्मारकम्। अतोऽतिमत्ताः स्वदेहाद्यनु-सन्धानरहिता ईश्वरधर्मानुसन्धाना अपीति तन्निकट एवालघु गायन्ति। वस्तुतस्त्विदमेव महत्तमं समाराधानं प्रभोरलिभिः क्रियते। अत एव प्रभोरभित इष्टं तदेव गीतम्। अपरं च। चार्वादिपदानि विहाय तत्र भवनार्थकप्रत्ययवत्प-दोक्त्या भगद्वनमालास्थतुलसीगन्धस्य दिविभव-त्वस्य बाधितत्वादग्रे स्वामिनीषु व्रजदेवीत्वस्य

वक्ष्यमाणत्वाद् दिवुधातोः क्रीडावाचकत्वाच्च स्वामिनीभिः सह क्रीडाजनितोऽयं गन्ध इति समभिव्याहारादवगम्यते। एतेन यथा दिविभवोऽर्थो नेतरलोकस्थजनविषयः, तथायमन्तरङ्गतमलीलाप्रपञ्चस्थभक्तैकगम्य इति ध्वन्यते। अत एव प्रभोरपि भावोद्बोधस्तेनासीदिति ज्ञापनाय कूजनमुक्तम्। किञ्च, वनमालास्थपुष्पमध्वनुक्त्वा तुलस्या एव तद्यदुक्तं 'दयितगन्धतुलस्या' इति वाक्याद् 'बाहुं प्रियांस' इत्युपक्रम्य 'तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमान' इति वाक्याच्च तद्गन्धमध्वादिस्वरूपं प्रभुरेव वेतीति नान्यगम्यः स विशेषः। तदभोक्तारोऽलयोऽपि न साधारणः, किन्त्वितरेभ्यो विजातीया अत्युत्तमा इति ज्ञापनार्थमेव कुलपदमुक्तम्। अत एवालिपदमुक्तम्। अलंशब्दो हि पूर्णतावाची। तथा च तद्वानलिरित्यत्रोच्यते। रसो न लीयते, न नश्यति यत्र येन वा सोऽलिरित्युच्यते। यद्यप्यत्र दीर्घः सम्भवति, तथापि 'दशहूतो ह वै नामैषः। तं वा एतं दशहूतं सन्तं। दशहोतेत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा' इति श्रुतिन्यायेन 'परोक्षं च मम प्रिय'मिति भगवद्वाक्याच्च स्वप्रियार्थस्य गोपनं प्रभोः प्रियमिति ज्ञायते। प्रकृते च स्वान्तरङ्गरसपोषकता एतेषु गोप्येति परोक्षेण ह्रस्वान्तं पदं प्रभु प्रकटितवान्। एवं सत्येत एवालयोऽन्ये तु भ्रमरा एव। क्वचिदेतेष्वप्यन्यनामप्रयोगस्तात्पर्यविशेषेणेति ज्ञेयम्। तारत्वं बहुत्वं चानुक्त्वा लघुत्वाभाव एव य उक्तस्तेन तद्गीतरसभरं वोढुं नान्यः शक्तः प्रभुं विनेति ज्ञाप्यते। महत्त्वे इयत्ता नास्त्येवेत्यपि ज्ञापनाय तथोक्तिः। एवं सति तदादरं कथं न कुर्यात्। यहीति पदात्तद्गीतरसपानपरवशश्चिरं तूष्णीमेव तिष्ठति, कदाचित्तद्रसभरेणैव कूजितवेणुर्भवतीति ज्ञाप्यते। अग्रे गीतोक्त्या पूर्वं तद्गीतोद्बुद्धभावेन स्वप्रियाणां भावोद्बोधनाय तथैवाकरोत्। ततो यदा पूर्णरसोऽभूत्, तदा जगाविति ज्ञाप्यते। अतिसुन्दरत्वनिरूपणे तिलकत्वोक्त्या तद्यथा भाग्यस्थाने भाले तिष्ठति, तयेदमपि स्वरूपं परमभाग्यवतीष्वेव तिष्ठतीति ध्वन्यते। अत्र कर्मधारयो ज्ञेयः। स्वामिनीनां हृदि प्रियातिरिक्ते दर्शनीयत्वास्फूर्तेः। अत्र यद्यप्युभयं मुख्यम्, तथापि नादे विशेषो निरूप्यते। अन्यथा मीलितदृक्त्वं नोच्येत। तत्र हेतुः। सरसि विद्यमानैरेव तैर्वेणुगीतं श्रुतम्। तच्च चारुत्वेन मनोहरणैकस्वभावम्। अतो नादाधीना एव निकटे समागताः। आदावेव नादहेतुभूतस्वरूपसौन्दर्यनिरूपणान्नादरस एव स्वरूपरसमप्यनुभवन्तीति ज्ञाप्यते। इदमप्यतिचित्रं यन्मत्तानां गीतानुरणनरूपेण गीतेन यतचित्तत्वं सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधश्चेति। एतेषामियं गीतरसपानदशेत्येवंरूपतैवोपपद्यतेपि। एतज्जन्यत्वेनैतदुत्तरकालीनत्वान्नादस्य। अलीकुलानामपि तुलसीगन्धमधुपानदशा पक्षितुल्यैव। पश्चात्तत्स्वभाववशादुक्तरूपत्वं परमिति ज्ञायते। मुनित्वात् पक्षिणामग्रेऽप्यन्तरेव निरन्तरमेतद्रसमग्नतयेति न मत्ततोक्ता। अथवा। प्रभुरसस्वभावादनुक्तसिद्धैवाग्रिमा सेति नोक्ता। तदैतेषामप्यलिकुलवद्दशा भविष्यति। वस्तुतस्तु उक्तरूपरसमत्तालिकुलालघुगीतमभीष्टत्वेन अतिचित्तानैयत्येनैवानुभवन् प्रभुर्वेणुकूजनगाने करोतीति तच्छ्रवणे पक्षिणामपि तथात्वमेवोचिततरमावश्यकत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः। तथाप्यादौ स्वरूपसौन्दर्यमेवोक्तमिति स्वस्य तद्दिदृक्षातिभरेण पक्षिणां तत्प्राप्तिदशायां तत्प्रतिबन्धस्मरणेन कश्चित् खेदोऽभूदिति हन्तेत्युक्तम्) ॥११॥

व्याख्यार्थ—जो सुन्दर देखने योग्य हैं उनमें भी भगवान् अति सुन्दर हैं। पक्षी रूप प्रधान होते हैं, अर्थात्, पक्षियों में रूप की प्रधानता होती है अतः वे रूपों के भेद को जानने वाले होते हैं। और यह जो वेणुनाद है वह अपना हितकारी है, कारण, कि वह स्वकीयों के अपराध को भी नहीं गिनता है। अपराध को कैसे नहीं गिनता उसको बताती हैं, कि वनमाला की दिव्य गन्धवाली तुलसी

के मकरन्द से मत्त भ्रमरों ने जो ऊंचे स्वरों में गीत गाए उनके भी आदर में वेणु बजाया, ज्योंही भ्रमर गुंजार करते हैं, त्योंही उनके नाद का मानों अनुकरण करते हुए वैसा ही वेणुनाद करते हैं। पक्षियों में भ्रमर हीन और निन्दित हैं वे भी अनेक प्रकार के भेद वाले समूहों में होकर अविवेक से, ऊंची ध्वनि से गुंजार कर रहे हैं उस ऊंची ध्वनि का भी भगवान् आदर करते हैं। और वह भी तब, कि जब ये भ्रमर मत्त हैं। यह मद भी तो उचित नहीं क्योंकि तुलसी अन्य पुष्पों की तरह मादक नहीं हो सकती क्योंकि उसकी तो गन्ध भी दिव्य है और वह भी फिर जब भगवान् की वनमाला में लगी हुई हो तब भी जब उनका आदर करते हैं तब सरोवर आदि में रहनेवाले जो रसिक हैं, क्षीर नीर को पृथक् कर सकते हैं अर्थात् गुण दोष को पहचानने वाले विवेकी हैं, उनका आदर कैसे नहीं करेंगे ? तुलसी के दिव्य गन्ध से मत्त भ्रमरों का आदर भी इच्छानुकूल कर रहे हैं, जैसा कि आपके कण्ठ में पड़ी वनमाला पर आके बैठते हैं तो वहां से उनको हटाते भी नहीं हैं। जैसे भ्रमरों को किसी प्रकार कष्ट न होए, वैसे उनका आदर करते हैं। इस प्रकार आदर करते हुए, जब वेणु बजाते हैं, तब ही तलाव में बैठे हुए भक्तों के सम्बन्धी, क्षीर नीर विवेक वाले हंस और उत्कृष्ट गति वाले वे पक्षी, पुरुषों से भी विशेष भगवान् के भजन के अधिकारी हैं अतः उनके चित्तों का भगवान् के गीत से हरण हो गया है। वह हरण भी निष्काम भावना से हुआ है, कारण, कि उनका वह भजन भक्ति मार्गानुसारी है, न कि, स्थान में स्थित अन्तर्यामी रूप में अथवा ज्ञान रूप में है। उसको स्पष्ट सिद्ध करने के लिए कहा है, कि भगवान् के पास आकर सेवा करने लगे, कारण, कि भगवान् ने कहा है कि ये पक्षी मुनि हैं। ये भजन के भौरे हैं अतः इनकी विशेषता बताते हैं कि इनका चित्त संयम में है, संयम चित्त से जो भजन किया जाता है वह मुख्य है। विक्षेप वाले चित्त से जो भजन होता है, वह मुख्य नहीं है। यहां श्लोक में 'हन्त' शब्द हर्ष प्रकट करने के लिए दिया है। ऐसा उत्तम भाग्य इनका (पक्षियों का) ही है, जिनमें बाहर का कोई व्यापार नहीं है, अतः ये भजन में सर्वोत्तम हैं। बाहर का व्यापार न हो, इसलिए इन्होंने वाणी और नेत्र बन्द कर लिए हैं, जिससे न वाणी कुछ अन्य बोल सकती है और न नेत्र अन्य को देख सकते हैं। अब तो ये नाद के ही परायण हैं, ये शुद्ध सात्विकी हैं इसलिए इनका ऐसा उत्तम भाग्य है, गोपियों ने इस युग्म में इस प्रकार निरूपण किया है।

अथवा यहां इस युग्म में यह भाव प्रदर्शित किया गया है, कि ये पक्षी अति रसिक मुनि हैं उन्होंने देखा कि पुरुष रूप से लीला में, हम उपयोगी न हो सकेंगे अतः पक्षी रूप धारण कर, अनेक प्रकार के अपने अस्फुट शब्दों से भगवान् तथा भक्तों में रस का उद्दीपन करने[1] लगे, जिससे अपनी कृतार्थता मान शब्द को ही अधिक प्रिय समझने लगे। इस कारण से यहां शब्द प्रधानवाली कीर्ति रूप वन माला के धर्मों का ही उपयोग[2] किया गया है। श्रुति कहती है कि जैसे[3] पुष्पों वाले वृक्ष की गन्ध दूर तक जाती है वैसे ही पुण्य कर्म से उत्पन्न कीर्ति की गन्ध भी दूर तक फैलती है, इस प्रकार कीर्ति की गन्ध से समानता बताई है। वनमाला कीर्तिरूप है, अतः उसका निरूपण करने वाले गीत गाने आवश्यक हैं, वे गीत तब गाए जाते हैं, जब उसके रस का आस्वादन किया हो, गुणातीत भक्ति रूप गन्धवाली तुलसी है, उसका मधुर रस, अति अलौकिक रस वाला होने से, अन्य सर्व रसों को

१—जगाने, २—काम में लाया गया है, ३—'यथा सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूरादगन्धोवात्येवं पुण्य कर्मणो दूरादगन्धो वहति' श्रुतिः।

भुला देता है, अतः उस अलौकिक रस से मत्त अलिगण अपनी देहादिकों को भी भूलकर एवं भगवान् के धर्मों का भी अनुसंधान रखे बिना ऊंचे स्वरों में भगवान् के निकट ही गाने लग गए। वस्तुतस्तु यही भगवान् की बड़ी में बड़ी सेवा है, जो ये भ्रमर कर रहे हैं। अतएव जो प्रभु को सर्वथा अपेक्षित था, वही इन्होंने भी गाया। यहां "चारुगन्ध" न कहकर "दिव्यगन्ध" कहा जब कि दिव्य का अर्थ होता है स्वर्गादि में जो उत्पन्न होता हो, और जैसा कि स्पष्ट है, भगवान् की धारण की हुई वनमाला में जो तुलसी है स्वर्गादि लोकों में उत्पन्न नहीं हुई है अतः "दिव्य" का अर्थ क्या लेना चाहिए ? आगे चलकर स्वामिनियों का व्रजदेवी होना कहा जाएगा तथा "दिवि" धातु का अर्थ क्रीड़ा भी माना गया है तदनुसार यह गन्ध स्वामिनियों के साथ क्रीड़ा करने के कारण, उत्पन्न हुई है ऐसा दिव्य एवं गन्ध पदों के जुड़ने से मतलब निकलता है। इस तरह गन्ध की दिव्यता सामान्य लोक नहीं जान सकते किन्तु अन्तरंगलीला प्रपंचस्थ भक्त ही केवल जान सकते हैं, यह ध्वनित होता है। अतएव प्रभु में भावोद्बोध उसी के द्वारा हुआ यह बताने के लिए कूजन का वर्णन किया।

एक और बात यह है, कि वनमाला के पुष्पों के मधु के बारे में, न कहकर, तुलसी के बारे में जो कहा "दयितगन्धतुलस्या" इस वाक्य तथा "बाहुँप्रियांस" से प्रारंभ करके "तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैर-न्वीयमान" तक के वचनों के अनुसार, उस गन्ध एवं मधु के स्वरूप को प्रभु ही जानते हैं, अन्य नहीं, यह भी सूचित होता है। उसके भोक्ता भ्रमर भी अतएव साधारण नहीं हैं किन्तु इतर भ्रमरों से, अलग-जाति के अति उत्तम भ्रमर हैं यह 'कुल' पद के द्वारा ज्ञापित हुआ। अतएव 'अलि' पद का प्रयोग किया। 'अलं' का अर्थ होता है पूर्णता, वह पूर्णता जिसमें हो उसे 'अलि' कहा जाता है। अथवा जहां रस लीन न होता हो नष्ट न होता हो उसे 'अलि' कहा जाता है। यद्यपि इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द 'अली' होना चाहिए था तो भी "दशहूतो हवै नामेषः तंवा एतं दशहूतं सन्तं दश-होतेत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा" इस श्रुति के अनुसार तथा "परोक्षं मम च प्रियं" इस भगवद् वचन के अनुसार अपने प्रिय अर्थ को गुप्त रखना प्रभु प्रिय है यह सिद्ध होता है। यहां अपने अन्तरंग रस की पोषकता इनकी गुप्त रखनी है अतः ह्रस्वान्त पद का प्रयोग किया गया है। यों अलि तो ये ही हैं, अन्य तो सारे भ्रमर हैं। कहीं-कहीं परन्तु प्रयोजन विशेष वश इनका भी अन्य नामों से उल्लेख किया जाता है। तार स्वर में गा रहे थे या बहुत गा रहे थे यों न कहकर 'अलघुगीत' कहा उसका तात्पर्य यह है कि प्रभु के बिना उस गीत के रस का भार कोई भी वहन नहीं कर सकता है। महत्ता की इयत्ता-सीमा नहीं होती यह भी जताने के लिए 'अलघु' कहा। ऐसी स्थिति में भला उनका आदर कैसे नहीं होता ?

'यर्हि' का तात्पर्य यह है कि गीत के रस का पान करके बड़ी देर तो ऐसे खो गए कि चुपचाप ही खड़े रहे और फिर उसी रस के छलकने से वेणुवादन करने लगे। आगे चलकर "चारुगीत" में 'गीत' पद आता है अतः प्रथम भ्रमरों के गीत से जाग्रत हुए भाव द्वारा भगवान् अपनी प्रियाओं में भी भाव जाग्रत करने के लिए वेणुवादन करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है, कि जब रसोद्बोध पूर्ण हो गया तब भगवान् ने वेणुकूजन किया। भगवान् अत्यन्त सुन्दर हैं यों कहने के लिए जो उन्हें 'तिलक' कहा उसका तात्पर्य यह है, कि तिलक जैसे भाग्यस्थान कपाल पर होता है वैसे ही यह स्वरूप भी परमभाग्यवालियों को मिला है। यहां कर्मधारय समास है, अर्थात् भगवान् दर्शनीय हैं तथा तिलक हैं। क्योंकि स्वामिनियों के हृदय में प्रिय भगवान् के बिना दूसरा कोई दर्शनीय सुन्दर पदार्थ है ही नहीं।

यहां यद्यपि रूप एवं नाद दोनों ही मुख्य हैं, तो भी नाद रूप की अपेक्षा अधिक है। क्योंकि नाद रूप की अपेक्षा अधिक न हो, तो नेत्रों को बन्द रखने का उल्लेख न होता। इसका कारण यह है, कि सरोवर में रहनेवाले उन पक्षियों ने ही वेणुगीत सुना। यह गीत इतना सुन्दर था, कि इसका केवल एक ही स्वभाव था और वह यह, कि मन को हर लेना। अतः वेणुनाद के अधीन हो कर ही, वे भगवान् के समीप आए। नाद के कारण, स्वरूप सौन्दर्य का आरंभ में ही निरूपण कर दिया था, अतएव नाद रस में ही स्वरूप रस का भी अनुभव होने लगा। यह भी तो एक अत्यन्त विचित्र ही बात है, कि मत्त भ्रमरों के गीतों की संगत करने के लिए गाए गए गीतों द्वारा पक्षियों के चित्त को वश में कर लेना तथा उनकी सभी इन्द्रियों की वृत्ति को निरूद्ध कर लेना। यह इनकी गीत रस पान की दशा है, अतः इनका ऐसे ही होना उपपन्नतर है। क्योंकि, यह वेणुनाद भ्रमर गीत से जन्य है, तथा भ्रमरों के गान करने के बाद हुआ है। अलिकुल-भ्रमरगण की भी तुलसी की गन्ध के मधुपान से जो दशा हुई वह ऐसी ही अर्थात् पक्षियों जैसी ही है। किन्तु पश्चात् मधु के स्वभाव से वे मत्त हो गए यह अधिक प्रभाव था। जबकि पक्षीगण सब मुनि हैं अतः आगे चलकर भी अपने अन्तर में उन्हें यह इस रस में अपने निमग्न होने की अनुभूति निरन्तर बनी रहती है अतः उनके मत्त होने का वर्णन नहीं किया जाता। अथवा, तो प्रभु के रस के स्वभाव के कारण ही, प्रभु के रस में मग्न रहने की स्थिति का वर्णन न भी करें तो भी स्वतः सिद्ध है अतएव वर्णन नहीं किया। क्योंकि तब इनकी भी, अर्थात् पक्षियों की भी, अलिकुल जैसी दशा हो जाएगी।

वस्तुतः तो यहां वर्णित स्वरूप के रस में मत्त हुए भ्रमरों के अलघुगीत अति प्रिय हैं, अतः भगवान् ने अपने चित्त को वश में रखकर उन्हें सुना और फिर सुनकर वेणुकूजन किया, गान किया। और इस ऐसे कूजनगान को सुनकर पक्षियों का भी अपने चित्त को वश में रखना आवश्यक है (कारणानुरूप कार्य होता है के नियमानुसार) यही विवेचन ठीक जचता है। फिर भी आरंभ में "दर्शनीयतिलक" के रूप में स्वरूप सौन्दर्य का ही वर्णन किया और उस स्वरूप सौन्दर्य को देखने की स्वयं उत्कट अभिलाषा होने से ऐसे लाभ के अवसर पर उन्होंने आंखें मीच ली तो उस प्रतिबन्ध का स्मरण करने से एक खेद सा उत्पन्न हुआ अतः "हन्त" कहा) ॥१०॥११॥

आभास—मेघः सर्वहितकारी, तस्यापि वेणुनादजनितभावमाह पूर्ववत्। **सहबल इति द्वाभ्याम्।**

आभासार्थ—मेघ सर्व का हितकारी है, उसको भी वेणुनाद श्रवण से जो भाव उद्भूत हुआ, उसका वर्णन 'सहबलः' युग्म में करती हैं।

श्लोक—**सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।**
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–हे व्रज देवीओं ! पुष्प गुच्छों से बने कर्णाभरण से विलसित

प्रभु बलदाऊजी के साथ पर्वतों के शिखरों पर विचरते हुए स्वयं आनन्दमग्न हो, जगत् को हर्षित करते हुए जिस समय वेणुनाद से जगत् को पूर्ण करते हैं, उस समय मेघ, महान् पुरुषों के अतिक्रमण से डर कर न आगे बढ़ता है और न ऊंचो गर्जना करता है, किन्तु वेणुनाद के पीछे मन्द-मन्द गर्जना करता है, तथा अपने मित्र भगवान् पर छाया से छत्र कर, सूक्ष्म बिन्दु रूप पुष्पों से वर्षा द्वारा सेवा करता है ॥१२-१३॥

सुबोधिनी—हे व्रजदेव्यः, गोप्यः, व्रजदेवतारूपाः। अनेन विश्वासो भविष्यतीति निरूपितम्। यर्हि वेणुरवेण विश्वमुपरम्भति पूरयति, तर्हि महदतिक्रमेण शङ्कितचेताः सुहृदं भगवन्तमभ्यवर्षत्। स्वदेहछायया च आतपत्रं विदधत् जातः। तद्वा कुर्वन् अभ्यवर्षत्। अयं नादो महाबलयुक्तः। विश्वगतान् सर्वानेव धर्मान् दूरीकृत्य स्वयमेव पूर्णः। तदाभासरूपोऽपि मेघः धूमादिसमूहात्मा विश्वं भगवतैव कृतार्थीभूतमिति स्वयमुपचरितार्थोपि स्वजन्मसाफल्याय भगवन्तमेव ववर्ष। तत्र यादृशेन वेणुनादेनैतद्भवति, तादृशकर्तारं भगवन्तं वर्णयति विशेषणचतुष्टयेन। अन्यथा उपरम्भणमर्थवादरूपं स्यात्। तत्र क्रियाशक्तिः सम्पूर्णेति वक्तुं **सहबलो** बलभद्रसहित इति उक्तम्। सृष्टिकरणक्रियापेक्षयापीयं महती क्रियेति ज्ञापयितुम्। स्रग्रूपो योऽयमवतंसः कर्णाभरणं तत्र विलासो यस्येति लीला निरूपिता। माला कीर्तिमयी। दश दिशः श्रोत्रम्, कीर्तिर्दिक्षु पूरिता यया सा भवत्येव सर्वोत्तमा। भगवत्कीर्तिप्रतिपादकं वा भागवतादिशास्त्रं सर्ववेदेष्वाभरणरूपं तत्र विलासयुक्ता तत्प्रतिपादिका च। एवं क्रियायाः स्वरूपतो गुणतश्च माहात्म्यं निरूपितम्। तस्याः सहकारिण्या इच्छाया माहात्म्यमाह। स्वयं जातहर्षः सर्वमेव च हर्षयन्निति। एवं वेणुनादस्य कारणभूतक्रियोत्कर्षमुक्त्वा देशतोऽप्युत्कर्षमाह **क्षितिभृतः सानुष्विति**। सर्वाधारभूतां पृथिवीं ये बिभ्रति, तेषामप्युच्चस्थानेषु स नादो जायते इति कथं न विश्वं पूरयेत्। रवः अनुरणनमतिगम्भीरं उपरम्भति नादेन पूरयतीति मेघादप्यधिका, क्रिया निरूपिता। तदैव मेघः महतो वासुदेवस्य उपरि गच्छन् भगवदतिक्रमणे शङ्कितचित्तो भूत्वा उपर्येव तिष्ठन् अग्रे गमनार्थमुद्यतः नीलमेघश्यामं विश्वजीवनं भगवन्तं स्वमित्रं ज्ञात्वा सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिः पुष्परूपैः स्वबिन्दुभिः। अर्थात् पुष्पैः पूजितवान्। न केवलं पूजामेव कृतवान्, किन्तु राज्यमपि दत्तवानित्याह **आतपत्रं दधदिति**। न केवलं राज्यमेव दत्तवान्, किन्तु आत्मनिवेदनमपि कृतवानित्याह **छाययेति**। सूर्ये अधःस्थिते उपरिस्थितेन न छाया भवतीति पृथक् छायानिर्देशः॥ १२॥ १३॥

व्याख्यार्थ—हे व्रज की देवता रूप गोपिओं! यहां गोपियों को देवी कहने के दो भाव हैं, एक तो ये गोपियां वे हैं, जो भगवान् की की हुई रासलीला की क्रीड़ा में थी, और दूसरा ये देवी हैं इसलिए ये श्रद्धावाली हैं, जिससे इनको इस कहने में अवश्य विश्वास होगा, कि भगवान् ने वेणुनाद से विश्व को पूर्ण कर दिया है और लीलाओं में भी विश्वास होगा।

भगवान् जब वेणुनाद से विश्व को भर देते हैं, तब महापुरुष के अतिक्रम से शङ्कित[1] चित्तवाला मेघ अपने मित्र भगवान् पर वर्षा करने लगा और उसने अपनी देह की छाया का छाता बनाकर धूप से बचाने की सेवा की।

१—भयभीत,

यह वेणू का नाद महा बलिष्ठ है, विश्व के सर्व धर्मों को हटाकर स्वयं ही सर्व में पूर्ण भर गया। मेघ ने सोचा कि मेरा जो काम, ताप नाश कर सबको शीतलता देना है वह तो भगवान् ने कर ही दिया। अतः अब मैं जो धूमादि समूहात्मा आभास रूप ही हूँ सो अपने जन्म को सफल करने के लिए भगवान् पर अपनी पुष्प जैसी बूंदो से वर्षा करता रहूं।

अब गोपीजन यह वर्णन करती हैं, कि जिस प्रकार के वेणुनाद से यह कार्य हुआ है उस प्रकार के नाद को करनेवाले भगवान् कैसे हैं? यदि उनमें विशेष गुण नहीं है, तो यह कहना केवल अर्थवाद[1] है इसलिए चार विशेषण देकर भगवान् का माहात्म्य सिद्ध करती हैं।

१-सहबलः--भगवान् ने इस समय अपनी पूर्ण क्रियाशक्ति अपने यहां प्रकट कर रखी है, इसलिए 'सहबलः' यह विशेषण दिया है। बलरामजी को साथ लिए हैं, कारण, कि बलरामजी पूर्ण क्रियाशक्ति स्वरूप हैं। जिस क्रियाशक्ति से सृष्टि की जाती है उससे भी यह क्रिया बड़ी है यह जताने के लिए बलरामजी सहित कहा है।

२--स्रगवतं स विलासः-इस विशेषण से यह कहा है, कि भगवान् ने पुष्य गुच्छों की माला रूप आभरण से कानों को सुशोभित किया है, जिसका आशय है, कि भगवान् ने कीर्ति रूप माला को दश दिशाओं में इस लीला से व्याप्त[2] कर दिया है, यह लीला सर्वोत्तम है कारण कि इससे कीर्ति चारों और फैल गई है, अथवा भगवान् की कीर्त्ति का वर्णन करने वाले भागवत आदि शास्त्र सर्व वेदों में आभरण रूप हैं, कारण, कि वे शास्त्र भगवान् के विलासों[3] से भरे पड़े हैं और उनका[4] प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार क्रिया शक्ति का स्वरूप तथा गुण से माहात्म्य निरूपण किया है,

३-जातहर्षः--इच्छा के सिवाय कोई भी कार्य नहीं होता है, अतः उसकी सहकारिणी इच्छा का माहात्म्य कहा है, प्रसन्नता का धर्म इच्छा है, इसलिए भगवान् स्वयं प्रसन्न हों, अर्थात् हर्ष युक्त होकर सबको हर्ष से भरने लगे, इस प्रकार इस विशेषण से वेणुनाद की कारणभूत[5] क्रिया का उत्कर्ष कहा है।

४-क्षितिभृतः सानुषु--इस विशेषण से जिस स्थान पर यह लीला की है, उस देश का भी उत्कर्ष बताया है, पृथिवी सबका आधार है, उस पृथ्वी को जो धारण करते हैं, उनके भी उच्च स्थानों में वह नाद जब पहुँचता है तो विश्व को कैसे न पूर्ण कर देगा।

यहां नाद न कहकर 'ख' कहा है जिसका आशय है कि, यह शब्द अति गम्भीर है, अतः अपनी ध्वनि से सर्व जगत् को भर देता है. जिससे मेघ से भी यह क्रिया अधिक है, यह सिद्ध किया है।

जब मेघ ने भगवान् की यह क्रिया देखली तब भगवान् के ऊपर जहां था वहां ही ठहर गया, भगवान् का अतिक्रमण कर आगे न बढा, क्योंकि मन में शङ्कित हुआ, कि अतिक्रमण कर जाना विफल है मेरा कार्य तो भगवान् ने प्रथम ही कर दिया है जिससे वे हमारे मित्र हैं अतः नील मेघ

१-झूठी बड़ाई, २-फैलाव कर दिया है, ३-लीलाओं से, ४-लीलाओं का, ५-इच्छा

सदृश श्याम, विश्व जीवन अपने मित्र भगवान् पर पुष्प रूप अपनी बूंदों से वर्षा करने लगा, अर्थात् पुष्पों से भगवान् की सेवा करने लगा, केवल सेवा ही नहीं की, किन्तु ऊपर छत्रधर राज्य भी दे दिया, इतना ही नहीं, किञ्च आत्मनिवेदन भी किया, सूर्य नीचे स्थित हो और मेघ ऊपर स्थित हो, तब वह छाया नहीं कर सकता है, इसलिए श्लोक में 'छायया' यह पद पृथक् दिया है ॥१२-१३॥

आभास—उत्तमास्त्रिविधान् वक्तुं तेषामपि वेणुनादेन किञ्चिद् जातमिति वक्तुं वेणुनादं वर्णयति, भगवन्तं च, **विविधगोपचरणेष्विति** युग्मत्रयेण । सन्देहो मोहः सर्वपरित्यागश्च ज्ञानिनां श्रुतीनामरण्यवासिनां वेणुनादेन कृतः । तत्र ये विश्वगुरवो ब्रह्मादयस्तेषामपि सन्देहार्थं भगवतो वेणुनादं वर्णयति **विविधेति** ।

आभासार्थ—तीन प्रकार के उत्तम अधिकारिओं पर भी वेणुनाद का पृथक् पृथक् प्रभाव पड़ा, जैसे कि ज्ञानिओं के मन में संदेह उत्पन्न हुआ, श्रुतिरूपा गोपियों को मोह हुआ और अरण्य वासियों ने सर्व त्याग किया । यह वेणुनाद का तथा भगवान् का कार्य 'विविध गोप चरणेषु' से लेकर तीन युग्मों में वर्णन करती हैं । उनमें विश्वगुरू ब्रह्मादिकों को भी संदेह हुआ तदर्थ भगवान् ने जैसा वेणुनाद किया उसको 'विविध गोप चरणेषु' युग्म में वर्णन किया है—

श्लोक—युग्म—विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥१४॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—हे यशोदा ! गोपों की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में चतुर तेरा पुत्र, सूर्यवत् प्रकाशकर अरुण अधर पर वेणु को धारण कर, अपनी ही नवीन उत्पन्न की हुई स्वरों की अनेक प्रकार की जातियां प्रकट करता है, तब इन्द्र, शिव, ब्रह्मा आदि सर्व देवता उस गान का शब्द जहां से आता है, उसी दिशा में अपनी गर्दन और चित्त को झुकाकर उसे सुनते हैं, यद्यपि वे विद्वान हैं, तो भी उस अलौकिक गान के भेद को न समझ मुग्ध हो जाते हैं ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—लोके जायमानः अलौकिकप्रकारः सन्देहमुत्पादयति । ननु न तद्रूपमीश्वरे यन्न वेदे श्रुतमस्तीति सर्वविद्यास्थानानां ब्रह्मा अभिज्ञ इति कथं तस्य सन्देह इत्याशङ्क्याह **वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षा** इति । सुशिरभेदो वेणुः । तस्यापि प्रकाराः शास्त्रे निरूपिताः । ते ब्रह्मणा ज्ञायन्ते । एते तु प्रकाराः उरुधानेकधा । निजशिक्षाः निजेनैव शिक्षा शिक्षणं अभिव्यक्तिप्रकारा यासु । अनेन नादब्रह्म नित्यमिति निरूपितम् । तत्र क्रियाशक्तिः साधनमिति तस्य लौकिकत्वे कथं नादः अलौकिको भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्याप्यलौकिकत्वायाह । विविधेषु गोपचरणेषु गोपानां

सञ्चारविशेषेषु विदग्ध इति । गोपसञ्चारा न वेदोक्ताः, किन्तु लौकिकाः । ब्रह्माण्डान्तरस्थिता अपि भवन्ति । ते न लोकेऽन्यत्र प्रसिद्धाः, नापि वेदे । भगवांस्तु सर्वत्रैव विदग्धः । अतोऽयं ब्रह्मा यं प्रकारं न जानाति, तमेव प्रकारं कृतवान् । ननु ब्रह्मसृष्टावाविर्भूतः कथं ब्रह्मणोऽप्यज्ञातः करोतिति चेत्, तत्राह **तव सुत** इति । यशोदां प्रति वदन्ति, स्त्रीमण्डले समागताम् । अत एवात्र न कामादिवार्ता, किन्तु अनिषिद्ध एवोत्कर्षो निरूपितः । यथा तव पुत्रोऽपि सन् तव मनसाप्याकलयितुमशक्यं करोति, तथा ब्रह्मणोऽपि ब्रह्माण्डे जातः । **सतीति** सम्बोधनं विश्वासार्थम् । अज्ञाने हेतुमाहुः **अधरबिम्बे दत्तवेणुरिति** । लोभात्मकोऽधर इति पूर्वमुक्तम्, अतो न लोके प्रसिद्धः । तस्य रसो भगवता न दत्त इति । तत्रापि बिम्बरूपः सूर्यवत् प्रकाशकः । न हि प्रकाश्याः प्रकाशकस्वरूपं विदुः । तत्र च स वेणुः स्थापितः, ततोऽप्युत्तमत्वख्यापनाय । **स्वरजातीः** षड्जादिस्वरजातिभेदान् । **अनयत्** नूतनत्वेनोत्पादितवान् यर्हि, तदा तत्परिज्ञानार्थं त्रिगुणप्रधाना अपि देवाः कालत्रयेऽपि समागत्य । सोऽपि कालः आधिदैविक इति ख्यापयितुं सवनपदम् । तं वेणुनादं सवनश उपधार्य । शक्रः सात्विकः, शर्वस्तामसः, परमेष्ठी राजस इति ते पुरोगमा येषां देवानाम् । सर्व एव देवास्त्रिगुणात्मका भवन्ति । कवयो निपुणा अपि नादे । इन्द्रो हि त्रैलोक्याधिपतिः सर्वदा नादपरः । शर्वस्तु नादशास्त्रकर्ता । परमेष्ठी तयोरपि गुरुः । अत एव परमेष्ठिपदम् । तेषामन्यचित्ततताभावायाह **आनतकन्धरचित्ता** इति । आसमन्तान्नता कन्धरा बाह्याभिनयार्थं चित्तं च येषाम् । ग्राहकं चित्तम् । नमनमत्र सर्वतः । तेऽप्यनिश्चिततत्त्वा जाताः । नाप्यौदासीन्येन कियत्कालं विचार्य अज्ञाने तूष्णीम्भूता इति मन्तव्यम् । यतः कश्मलं ययुः, चिन्तया मूर्च्छिताश्च जाताः । वेणुनादेन वा मोहिताः । अत एव आभासत्वपक्षोऽपि निराकृतः । अलौकिकरसोत्पादकत्वात् ॥ १४ ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—अलौकिक प्रकार जब लोक में उत्पन्न होता है तो सन्देह होता है । जिस रूप का वर्णन वेदों में नहीं मिलता तो उस रूप का ईश्वर में होना भी नहीं माना जा सकता तथा ब्रह्माजी तो सभी विद्यास्थानों के जानकार हैं अतः उनको सन्देह हुआ यह बात भी बराबर समझ में नहीं आती, अतः इसका समाधान करती हैं "वेणुवाद्य उरुधा निज शिक्षा" द्वारा । वेणु सुषिर वाद्य के अन्तर्गत आती है । इसके भी अनेक प्रकार शास्त्र में दिखलाए गए हैं । और ब्रह्माजी को वे सब मालूम नहीं हैं । किन्तु भगवान् जिस वेणु को बजा रहे हैं उसके तो कई प्रकार हैं । 'निजशिक्षा' यानि स्वयं अपने शिक्षणस्वरायोजन की अभिव्यक्ति के प्रकार जिनमें हैं ऐसे स्वरों को भगवान् अभिव्यक्त कर रहे हैं । एतावता नाद ब्रह्म नित्य है यह निरूपण हुआ । इस नाद ब्रह्म की अभिव्यक्त का साधन क्रिया शक्ति है और वह यदि लौकिक हो तो नाद कैसे अलौकिक हो पाएगा ? इसके समाधानार्थ साधन की भी अलौकिकता दिखलाते हैं "विविधगोप चरणेषु विदग्ध" द्वारा । गोपों के विविधसंचारों में भगवान् विदग्ध हैं । गोपसंचार वेदोक्त नहीं होते, किन्तु लौकिक ही होते है । न केवल इतना अपितु अन्यान्य ब्रह्माण्डों में अनेक प्रकार के हो सकते हैं । वे अपने ब्रह्माण्ड के अलावा अन्यत्र न तो लोक और न वेद में ही प्रसिद्ध हो पाते हैं । किन्तु भगवान् तो सभी जगह की सारी बातें जानते हैं अतः जो प्रकार इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा नहीं जानते थे वही प्रकार भगवान् ने अपनाया । यहां एक शंका उठती है, कि ब्रह्मा की सृष्टि में जब आविर्भूत हुए ही हैं तो उसी ब्रह्मा से अज्ञात रखने का प्रयोजन क्या ? इसका उत्तर "तव सुता" द्वारा दिया गया है । इन स्त्रियों के मण्डल में यशोदाजी आई हैं और तब उनसे यह बात कही जा रही है । अतएव यहां काम आदि की चर्चा नहीं है किन्तु

अनिषिद्ध उत्कर्ष का ही वर्णन किया गया है। यशोदाजी को कहती हैं कि आपके पुत्र होने पर भी आप के मन से अगोचर ऐसे अशक्य कार्यों को जैसे करते हैं वैसे ही ब्रह्माजी के साथ भी उन्हीं के ब्रह्माण्ड में घट गया है। 'सति' कहकर संबोधन करने का प्रयोजन विश्वास है। ब्रह्मा इत्यादि न जान पाए उसका कारण 'अधरबिम्बे दत्तवेणु'' द्वारा कहा जा रहा है। अधर लोभात्मक है यह पहले कहा ही है, अतः लोक में यह प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् इससे रसको भगवान् ने किसी को भी नहीं दिया है। इसके अलावा यह अधर बिंब है सूर्य की तरह प्रकाशक है अब भला स्वयं उससे प्रकाशित हो रहे हों वे अपने प्रकाशक का रूप कैसे जान सकते हैं ? ऐसे अधर पर भगवान् ने वेणु रखकर यह दिखलाना चाहा है कि यह वेणु उससे भी उत्तम है।

भगवान् के उन नवीन प्रकार के स्वरों को समझने के लिए त्रिगुण प्रधान भी देव तीन कालों से आकर सुनने लगे। वह काल भी आधिदैविक हैं इसलिए मूल श्लोक में 'सवन' पद दिया है, जिसका आशय है कि यह लीला मध्यान्ह काल की है कारण कि यह सप्तम युगल है। सप्तम युगल में जो लीला कही है वह मध्यान्ह काल की लीला है, अतः यह 'सवन' पद मध्यान्ह सवन दिखाने के लिए दिया है। इस सवन से प्रातः तथा सायं तृतीय सवन नहीं समझना चाहिए। वे देव तो वेणुनाद के स्वरों का तीनों सवनों में विचार करने लगे क्योंकि, शक्र[1] सात्विक है, शर्व[2] तामस है, परमेष्ठी[3] राजस है ये तीन सर्व देवों के नेता हैं अतः सर्व ही देव त्रिगुणात्मक हैं। ये देव नाद में निपुण होते हुए भी समझ न सके। इन्द्र त्रैलोक्य का अधिपति, सर्वदा नाद के परायण है। महादेव तो नाद शास्त्र का कर्ता है और ब्रह्मा दोनों के गुरु हैं। इसलिए ब्रह्मा को 'परमेष्ठि' पदवी प्राप्त है। गोपी-जन कहते हैं कि इन देवों का चित्त अन्य किसी में नहीं था इसलिए सर्वदेव नीची गर्दन कर नमन कर खड़े थे, जिससे उनकी एकाग्रता प्रकट होती है। किन्तु तो भी उन स्वरों के तत्वों को नहीं जान सके, यों भी नहीं समझना चाहिए कि कुछ समय उनका विचार किया जब वे समझ में नहीं आए तब उदासीन होने से अज्ञान के कारण चुप हो गए हैं, किन्तु चिन्तन करते हुए मूर्च्छित हो गए। अथवा वेणुनाद से मोह को प्राप्त हुए, इस कारण से ही आभासत्व पक्ष का भी निराकरण किया, अर्थात् यह नाद नहीं है किन्तु नाद का आभास है, इस पक्ष का भी निवारण किया है, यह नाद का आभास नहीं है, कारण कि यह नाद अलौकिक रस को उत्पन्न करता है ॥ १४-१५ ॥

आभास—अस्त्वन्येषां वार्ता। वेणुनादोऽस्माकमेवान्यथात्वं सम्पादयतीत्याहुर्द्वयेन पूर्ववत् **निजपदाब्जदलै**रिति।

आभासार्थ—दूसरों की कथा का त्याग कर दो, किन्तु वेणुनाद ने हमको ही अन्य प्रकार की बनादी है, जिसका वर्णन आगे की तरह 'निजपदाब्जदलैः' इस युग्म से गोपीजन करते हैं—

श्लोक—निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाकृतिविचित्रललामैः।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरोरितवेणुः ॥१६॥

१-इन्द्र, २-शिव, ३-ब्रह्मा

व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥१७॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–ध्वज, वज्र, कमल तथा अंकुश के विचित्र चिन्ह वाले आपके चरण रूप कमल पत्रों से व्रजभूमि की खुर लगने से हुई पीड़ा को शमन करते हुए हू हू वाले महान् वृषभ के समान गति से चलती गायों की व्यथा को मिटाते हुए और वेणुवादन से गोपियों की व्यथा को शांत करते हुए जब पधारते हैं, तब अपने विलास वाले दृष्टि पात से हमारे शरीर के अङ्ग अङ्ग में काम अर्पण करते हैं जिससे वृक्षवत् स्तब्ध हुई हम वैसी हो जाती हैं जो हमको अपने वस्त्र तथा केशों का भी भान नहीं रहता है ॥१६-१७॥

सुबोधिनी—यर्हि ईरितवेणुः सन् व्रजति, तदा तेन नादेन कुजगतिं स्थावरत्वं गमिता वयं गोप्यः सर्वा एव कश्मलेन मूर्च्छया वसनं परिहितं केशपाशं वा न विदाम इति सम्बन्धः । अयं वेणुनादोऽस्मदर्थमेव जायत इति तस्य चेष्टया अनुभवाच्च ज्ञायते । तत्र चेष्टाया गोकुलनिवासिनामेवार्थे जायते, तया व्याप्तः कथमन्यकार्यं कुर्यात् । अतः प्रथमं भगवतो गोकुलहितकर्तृत्वमाहुः । निजस्य स्वस्यैव यत्पदाब्जद्वयं तस्य दलैः दशाङ्गुलीभिः तलभागैर्वा । **व्रजभुवः** निरन्तरं पश्वाक्रमणेन जातव्यथायाः व्रजभूमेः खुरैर्जातं तोदं शमयन्निति शनैः शनैर्लीलया भगवद्गतिर्निरूपिता । क्षतांशः गतिविलासेन पादस्पर्शेन निराकृतः । आध्यात्मिकाद्यंशस्तु ध्वजादिना । तामसः भौतिकः ध्वजेन निराक्रियते । राजस आध्यात्मिको वज्रेण । सात्त्विक आधिदैविकः नीरजाकृतिचिह्नेन । तान्येव विचित्राणि ललामानि पदेषु । तेन लौकिकालौकिकप्रकारेण व्रजभुवः खुरतोदप्रशमनम् । व्रजे तिस्रः प्रधानभूताः । भूमिः गावो गोप्य इति । तत्र भूमेर्दुःखनिवृत्तिं गत्या निरूप्य, गत्या कृत्या च गवां दुःखं निवारयतीत्याह **वर्ष्मधुर्यगतिरिति** । वर्ष्मधुर्यो महावृषभः ककुद्मी, स यथा लीलया मन्थरगतिः, तथा गच्छन् गवामपि दुःखहारीव निरूपितः । **ईरितवेणुर्व्रजतीति** । गोपिकानां तदास्माकं वेणुनादेन जाते कामे स्थावरत्वमधिकं जातमित्याहुः **तेनेति** । स्वभावत एव वेणुनादेन जातः कामः । तत्रापि सविलासवीक्षणेन अर्पितो मनोभववेगो यासु । अतो वेगेन स्तम्भे जाते कुजगतिं वृक्षगतिं गमिता जाताः । तेषामन्तर्ज्ञानमस्तीति तदर्थमाहुः **न विदाम** इति । सुषुप्तावपि न जानन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **कश्मलेनेति** । कश्मलेन मूर्च्छया । स्त्रीणामत्यावश्यकं वसनज्ञानं कबरज्ञानं च । वेणुनादप्रस्तावे एवैतज्जातमिति गतिदृष्ट्यादिभिरपि कृतमत्र निरूप्यते ॥१६॥१७॥

व्याख्यार्थ—जब भगवान् बंशी बजाते हुए चलते हैं, तब उस नाद से वृक्ष की सी गति को प्राप्त हम सर्व गोपियां ऐसी मूर्च्छित हो जाती हैं, कि जिससे हमको अपने शरीर पर पहना हुआ वस्त्र है, वा नही, तथा केश पास का भी ध्यान नहीं रहता है, इस प्रकार अन्वय है । यह वेणुनाद हम लोगों के लिए ही होता है, यों उसकी चेष्टा से और अनुभव से जाना जाता है । उसमें जो चेष्टा है, वह गोकुलवासियों के लिए ही होती है । जब भगवान् के अन्तःकरण में यही इच्छा व प्रयत्न है, कि

मणियों की गणना करते हैं, जिससे उनको मालूम हो जाता है कि इतनी गाएं हैं। इस तरह गणना का यह भी आशय है, कि भगवान् बताते हैं कि गाएं और उनके धर्म मुझमें ही हैं, अतः गायों में संसार का अभाव है। जिससे गोपियों में, हरिणियों में, भी संसार का अभाव बताया है। पशु तो पशु ही हैं, चाहे ग्राम्य या आरण्य। भगवान् जब ग्राम में रहने वाले पशुओं का उद्धार करते हैं तो अरण्य में रहनेवाले पशुओं का भी अवश्य करेंगे ही, अतः उनकी भगवान् कृष्ण में तत्परता योग्य ही है।

अपने को प्रिय गन्धवाली तुलसी की माला धारण की हुई है, जिससे यह भगवान् हैं यों जानने में आ जाता है, जैसे भगवान् को श्याम रंग प्रिय है, स्त्रियों का स्पर्श प्रिय है, वेणु का नाद प्रिय है, और मक्खन का रस प्यारा है उसी प्रकार तुलसी की गन्ध भी प्यारी है, उस तुलसी गन्ध में जो उत्तमता है वह कुछ सात्विक पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है, वैसी तुलसी है, अतः उसकी माला को आप धारण करते हैं।

हम भी जब वैसी प्रिय बनेंगी तब हमको भी अथवा हमारे धर्मों को धारण करेंगे, इस कारण से कृष्ण सार हरिणों के स्त्रियों की प्रवृत्ति हुई है, कृष्णसार का उपयोग तो वेद में हुआ है और उसकी स्त्रियां अपना विनियोग भक्ति में करने के लिए, इस प्रकार की प्रवृत्ति करती हैं।

और अतिशय प्यारे सेवक गोप के कन्धे पर जब भुजा धरते हैं तब गोप, भगवान् गान करे, वैसी इच्छा करते हैं उन प्रिय सेवकों की भगवान् इच्छा पूर्ण करने के लिए कभी गान करते हैं। इस प्रकार के स्नेह तथा सेवा धर्म के होने से गोपों का मनोरथ पूर्ण होता है तथा गोपियों की तरह हरिणी भी चाहती हैं, कि हम भी वैसी होवें, तदर्थ स्नेह से वे भी भजन करती हैं। जब विजातीय के साथ काम की इच्छा नहीं होती है, तब हरिणियों को मनुष्य रूपधारी विजातीय भगवान् में काम की इच्छा कैसे हुई ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं, कि हरिणियों को अपने देह की स्फूर्त्ति ही न रही, कि हम हरिणियां हैं, अतः उन्हें भगवान् में काम भोग करने की इच्छा हुई। उसी समय भगवान् वेणु बजाने लगे। 'क्वणितं' शब्द कहने का आशय यह है, कि मन को हरण करनेवाला शब्द, यदि अचानक हो, तो उसको क्वणन संज्ञा दी जाती है, वह मनोहारी क्वणन, यदि वेणु से निकलता है, तो उसके सम्बन्ध से अन्य शब्द भी चित्त को हरण करनेवाले उसमें से निकलते हैं, जिससे उसको 'रव' कहा जाता है। यह तो प्रसिद्ध ही है, कि मृग जाति गान से वश में आ जाती है, हरिणियों को उस नाद से यह प्रतीति हुई, कि अब ही हमारा उपयोग होगा अर्थात्, हमारी कामना भगवान् इस समय ही पूर्ण करेंगे, इस विचार के कारण, शब्द श्रवण से ये हरिणियां ठगी गई हैं। इस प्रकार, नाद से ठगे जाने के कारण, हरिणियां श्रीकृष्ण के पास बैठ गईं। जिस प्रकार कोई मनुष्य मरण पर्यन्त उपवास कर, शान्त होकर बैठ जाता है, वैसे ही ये भी कृष्ण के पास बैठ गईं। अन्य की स्त्रियां, अन्य के गृह में और पर पुरुष के पास कैसे बैठी ? इस शङ्का के उत्तर में कहा गया है, कि ये हरिणियां कृष्ण (कृष्णसार) की स्त्रियां हैं ये भी कृष्ण ही तो हैं यों सोचकर वे यहां इस कृष्ण की गृहिणी हो गईं। अथवा वेणुनाद सुनकर ठगी सी रूप को भूलकर केवल शब्द मात्र में तत्पर हो गईं। अथवा प्रभावशाली वेणुनाद के कारण कृष्णसार भी कृष्ण ही तो हैं यों मान कृष्ण के ही पास बैठ गई।

कृष्णसार भी कृष्ण है, इस भ्रम के होने से जब उसमें भी कृष्ण नाम है, तो उसको छोड़कर

यहां कैसे आ गईं ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहा गया है, कि 'गुणगणार्णं' कृष्णसार में तो एक वा दो गुण हैं, किन्तु कृष्ण तो गुणों का समुद्र है, अतः गुणों से आकृष्ट होकर, जहां भी भगवान् जाते हैं, ये भी उनके पीछे जाती हैं, इन्होंने घर में लौटकर जाने की आशा का त्याग कर दिया है (हरिणीओं ने भगवान् की सन्निधि में रहकर भगवद्रस का पान किया, जिससे उनकी भी गोपियों की भांति भगवान् में आसक्ति हो गई। हरिणियों के नयन भगवान् को भी प्रियाओं जैसे प्रतीत हुए, जैसे गोपिकाएं भगवान् को निहार रही हैं वैसे ही ये भी निहार रही थी अतः इन्हें भी वैसे ही भाव उत्पन्न हुए और प्रभु ने भी वैसे वेणु क्वणन किया। यहां नाद शब्द न कह कर 'रव' कहा है, जिसका आशय यह है कि इस पद में 'र' अक्षर अग्नि अर्थात् ताप उत्पन्न करने वाला बीज है, और 'व' अक्षर ताप का शान्त करनेवाला अमृत का बीज है, सारांश यह है कि यह रव प्रथम भगवान् के लिए अन्तःकरण में आर्ति अर्थात् मिलने की उत्कट इच्छा उत्पन्न करता है, पीछे भगवन्मिलन रूप भावामृत का सिञ्चन कर, उस ताप को मिटा देता है, अतः गोपियों ने जो अपना दृष्टान्त दिया है, वह योग्य ही है।)

आभास—एवं नवप्रकारेण वेणुनादं निरूप्य, गुणातीतप्रकारेण त्रिधा निरूपयन् वेणुनादेन भगवान् जगदेव वशीकृतवानित्याह **कुन्ददामेति द्वाभ्याम्** ।

आभासार्थ—इस प्रकार वेणुनाद का नव भांति निरूपण कर अब गुणातीत प्रकार से, तीन तरह वर्णन करती हैं, जिसमें कहती हैं, कि भगवान् ने वेणुनाद से, जगत् को ही वश में कर लिया है वह वर्णन 'कुन्ददाम' इस युग्म में करती हैं—

श्लोक—कुन्ददामकृतकौतुकवेशो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
बन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–कनेर के फूलों की माला से कौतुक वेश धारी, ग्वाल तथा गौओं के गण से वेष्टित तथा स्नेहियों को आनन्द देनेवाले तुम्हारे पुत्र नन्द के कुमार जिस समय श्री यमुनाजी में विहार करते हैं, तब अपने स्पर्श से भगवान् को मान देते हुए दक्षिण का वायु, अपने मन्द, शैत्य तथा सुगन्धि इन तीन गुणों को प्रकट करता है, इसी प्रकार गन्धर्वादिक देव गण भी बंदीजनों के सदृश स्तुति करते हुए, बाजा बजाते, गान करते तथा भेटें अर्पण करते भगवान् को चारों तरफ घेर लेते हैं ॥२०-२१॥

सुबोधिनी—यर्हि भगवान् यमुनायां विजहार, तत्रापि पूर्वोत्तरदशायामपेक्षितो वेणुनादः परिगृह्यते, प्रकरणित्वात्, प्रकारविशेषाभावाच्च न पृथगुक्तः, तदा उपदेवगणाः परिवव्रुरिति सम्बन्धः। यमुनायामिति सामीप्यसप्तमी। अधिकरणसप्तमी वा। धर्मे गवां गोपालानां च जले स्थितिः सम्भ-

इस नाद से गोपीजनों में मेरे लिए प्रेम उत्पन्न होवे, तब वे भगवान् दूसरा कार्य कैसे करेंगे ? अतः प्रथम भगवान् ने जो गोकुल का हित किया है उसका वर्णन करती हैं।

भगवान् लीला पूर्वक धीरे धीरे चलते हुए अपने दो चरण कमलों की दश अङ्गुलियों से अथवा चरणों के अधो भाग से सर्वदा पशुओं के आक्रमण के कारण उनके खुरों से जो व्रजभूमि को पीड़ा होती थी उसको मिटाकर उसका हित करते हैं। किससे कौनसी पीड़ा मिटाई जिसका स्पष्ट वर्णन करते हैं कि अपनी गति विलास वाले पाद स्पर्श से, खुरों से क्षत अंश की पीड़ा मिटाई। चरण में स्थित ध्वजादि चिन्हों के स्पर्श से आध्यात्मिकादि पीड़ा नष्ट की है। जैसे कि तामस भौतिक पीड़ा को ध्वज के चिन्ह से राजस आध्यात्मिक पीड़ा को वज्र के चिन्ह से और आधिदैविक सात्विक पीड़ा को कमलाकृति चिन्ह से मिटा दिया है। चरणों में जो ये विचित्र चिन्ह हैं उनसे लौकिक तथा अलौकिक प्रकार से व्रज भूमि का खुरों से उत्पन्न दुःख दूर किया। व्रज में भूमि, गौ और गोपियां ये तीन मुख्य हैं, उनमें भूमि का दुःख अपने चलन से दूर किया, और गौओं का दुःख हुङ्कार वाले महान् वृषभ जैसी धीमी चाल से चलने से नष्ट किया तथा हम गोपियों का दुःख वेणुनाद से उत्पन्न किए हुए काम द्वारा मिटाया।

वेणुनाद से तो स्वभाव से ही काम उत्पन्न हुआ पुनः उस काम में वेग उत्पन्न करने के लिए, विलास से दृष्टिपात किया, इस प्रकार उस काम में वेग आ जाने से, हम वृक्ष जैसी स्तब्ध गति को प्राप्त हो गईं। बाहर तो वृक्ष समान गति हुई, किन्तु भीतर तो ज्ञान रहा होगा ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि 'न विदामः' हम यह भी नहीं जानती हैं कि भीतर ज्ञान था वा नहीं था, तो क्या आपकी दशा सुषुप्ति समान हो गई थी ? इसका निराकरण करती हुई कहती हैं कि हमारी यह दशा सुषुप्ति समान नहीं थी, किन्तु मूर्च्छा से हुई थी। स्त्रियों को दो विषयों का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक हैं—१–वस्त्र हमारे शरीर पर यथा स्थान हैं वा नहीं, २–चोटी का ज्ञान, वेणुनाद के आरम्भ में भी यों हुआ था और पुनः यहां गति और दृष्टि से भी वैसा ही किया है ॥१६-१७॥

आभास—हरिणीनां वेणुनादेन यथा जातं तद्वक्तुं पूर्ववद्वेणुनादं वर्णयन्ति **मणिधर** इति **द्वाभ्याम्**।

आभासार्थ—वेणुनाद के श्रवण से हरिणियों को जो भाव हुआ उसका पहले की भांति 'मणिधर' इस युग्म में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः।**
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥१८॥
क्वणितवेणुरवञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वासत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–मणियों की माला धारण करने वाले भगवान्, कभी उन मणियों से गौओं की संख्या गिनते हैं, और अपने को प्रिय जो तुलसी, उसकी माला

पहने हुए, अपने प्रिय अनुचर के कन्धे पर हाथ रखकर, जब गान करते हैं, जब बजती हुई वेणु के शब्द से जिनके चित्त हरण हो गए हैं, वैसी काले हरिणों की वधू अर्थात् हरिणियां, गोपियों की भांति घर की आशा का त्याग कर, अनेक गुणों के समुद्र भगवान् के पास जाकर, उनका अनुसरण करती रहती हैं ॥१८-१९॥

सुबोधिनी—गवामाधिदैविकानि रूपाणि मणयः। तान् स्वस्मिन् बिभर्तीति मणिधरः। अभिज्ञानार्थं वा। स्वप्रियाणामभिज्ञापका मणयः। अतस्तैः कदाचिद् गाः आसमन्ताद् गणयन् जातः। अनेन ताः तद्गतधर्माश्च भगवत्येव प्रतिष्ठिता इति तासां संसाराभावः सूचितः। अत एव गोपिकानामपि। अत एव हरिणीनामपि। पशुत्वाविशेषाद् ग्राम्याणां चेदुद्धारकः, विशेषत आरण्यानां भविष्यतीति युक्ता कृष्णपरता। मालया दयितगन्धतुलस्या उपलक्षितः। यथा भगवतो नीलं रूपं प्रियम्, स्पर्शः स्त्रीणाम्, शब्दो वेणोः, रसो नवनीतस्य, तथा गन्धस्तुलस्याः। तद्गतोत्तमता सात्त्विकानां केषाञ्चिदनुभवसिद्धा। तादृशी तुलसी। अतस्तस्या मालां बिभर्ति। अतो यदा वयमपि प्रिया भविष्यामः, तदा अस्मानपि अस्मद्धर्मान् वा धारयिष्यतीति कृष्णसारस्त्रीणां प्रवृत्तिः। कृष्णसारस्तु वेदे नियुक्त इति भक्तौ तासां विनियोगार्थं प्रवृत्तिः। किञ्च। प्रणयिनोऽतिप्रेमवतः, अनुचरस्य गोपस्यांसे भुजं प्रक्षिपन्निति। **कदा** कदाचित्। 'आशंसायां भूतवच्चे'ति वा कदा अगायतेति मध्ये गानाशंसा यथा गोपालस्य तथा स्नेहसेवाधर्मयोः सद्भावे एवं भविष्यतीति गोपिकानामिव हरिणीनामपि तथात्वाय स्नेहभजनम्। देहास्फुरणात् न विजातीयत्वेन कामाभावः। तदैव क्वणितो यो वेणुः। आकस्मिकः शब्दविशेषो मनोहारी क्वणनात्मकः। स चेद्वेणोर्निगतः, तत्सम्बन्धादन्येऽपि शब्दाश्चित्तवञ्चका इति रवपदम्। शब्देन मृगाणां वशीकरणं सिद्धमेव। इदानीमेवोपयोगो भविष्यतीति प्रतीतिजननाद्वञ्चकत्वम्। अतो रवेण वञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वासत। कृष्णसमीपे **आसत** उपविष्टा जाताः। यथा प्रायमुपविशति, एवं कृष्णमनूपविष्टाः। ननु स्त्रियोऽन्यस्य कथमन्यस्य गृहेऽन्यस्य समीपे उपविष्टा इति, तत्राह कृष्णस्य कृष्णसारस्य गृहिण्य इति। कृष्ण इति तास्तस्य गृहिण्यो जाताः। वञ्चितचित्तत्वाद्वा रूपं विस्मृत्य शब्दमात्राभिनिविष्टा जाताः। वेणुनादेन वा सानुभावेन कृष्णसारेऽपि कृष्णमत्या कृष्णमेवान्वासत। ननु कृष्णसारेऽपि कृष्णभ्रमात् शब्दोऽपि वर्तत इति तं परित्यज्य कथमागता इत्यत आह **गुणगणार्णव**मिति। कृष्णसारे एको द्वौ वा गुणौ। अतो यत्रैव भगवान् गच्छति, तत्रैव तमनुगत्य सर्वा एव हरिण्यो विमुक्तगृहाशा जाताः। गृहं गमिष्याम इत्याशामपि त्यक्तवत्यः। (सान्निध्येन भगवद्रसः पीत इति लब्धस्वादुभावाः गोपिका इव तदेकपरा जाताः। एतन्नयनेषु स्वप्रियानयनसादृश्यदर्शनेन यादृशेन भावेन ताः पश्यति, तादृशेनैवैता अपि पश्यन्तीति, एतासामपि तत्सजातीयभावोत्पत्तिः, तथैव वेणुक्वणनं च। अत एवाग्निबीजामृतबीजात्मकं रवपदमुक्तम्। यतस्तच्छ्रवणेऽत्यार्तिस्तत्तापशमनं च सम्पद्यते। अतः स्वदृष्टान्तोक्तिर्युक्ता ॥ १८ ॥ १९ ॥)

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जिन मणियों को धारण किया है, वे मणियां गायों के आधिदैविक रूप हैं। अतः आप 'मणिधर' हैं। अथवा ये मणियां भगवान् को जो प्रिय हैं, उनकी स्मृति बनाए रखने के लिए भगवान् ने धारण की हैं। गायों के जैसे पृथक् पृथक् रंग होते हैं, वैसे ही उन मणियों के रंग भी अलग अलग हैं, जब कभी भगवान् की इच्छा होती है, कि गायों की गणना करूं, तब

वति । तत्र विहारो गोपैः सह जलक्रीडा । गवां प्रक्षालनादिः । सर्वत्रोद्वेगशान्त्यर्थं वेणुनादः सहकारी । तदानीमनलङ्कृतत्वमाशङ्क्य अलङ्कारमाह कुन्ददामेति । वस्त्राभरणाद्यलङ्कारा भविष्यन्त्येव, पुष्पालङ्कारा न भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तदेव निरूप्यते । कुन्ददाम्ना कृतः कौतुकवेशो यस्य । दामान्यनेकप्रकाराणि । तैस्तथा वेशो निर्मीयते । यथा अत्यद्भुतो भवति । अत्र तु यथैव हास्यरस उत्पद्यते, तथैव निर्मीयत इति । नन्वेतादृशीं प्राकृतलीलां भगवान् कथं कृतवानित्याशङ्क्यायामाहुः **नन्दसूनुस्तव वत्स** इति । यया लीलया नन्दपुत्रो भवति, तयैव लीलया प्राकृतलीलामपि सम्पादयति । **अनघ** इति सम्बोधनं क्रोधाभावाय विश्वासार्थं च । तव च वत्सो जातः । अनेन त्वं गोरूपेति सर्वगुप्तरसानभिज्ञत्वं सूचितम् । अन्यथा उलूखलबन्धनलीलां न कुर्यात् । मध्ये निर्दोषत्वेन सम्बोधनादुभयोर्निर्दोषत्वं ज्ञाप्यते । तादृश्या वत्सत्वेन भगवत्यपि तथा । पूर्णगुणत्वलक्षणमाधिक्यं चोच्यतेऽग्रिमविशेषणेन । किञ्च, प्रणयिनां नर्मदः । ये केचन स्नेहयुक्ताः, यथैव ते स्निग्धा भवन्ति, तथैव लीलां करोतीति । अनेन सर्वत्रैव हेतुरुक्तः । यत्रैव लीलासक्त्या क्रीडा, स विहारः । सोऽत्र जलक्रीडा नृत्यक्रीडा वेणुवादनक्रीडा च ज्ञेया । अन्यथा वाद्यादीनामुपयोगो न स्यात् । विघ्नवन्तो हि वशीकर्तव्याः । तत्र विघ्नोत्पादको वायुः । देवाश्च तदाधारभूताः । तत्राप्युपदेवगणा बन्दिनश्च बहिर्विघ्नप्रकटनपराः । अतोऽन्यापेक्षया तेषु विशेष उक्तः । प्रथमतः कारणभूतं वायुं निरूपयन्ति । मन्दो वायुः अनुकूलं यथा भवति, तथा उपवातीति । अनुकूलं कुलसमीपे हितं च । अनेन शैत्यं निरूपितम् । मलयजस्पर्शेन सहित इति सौरभ्यम् । अनेन दाक्षिणात्योऽयं वायुरिति निरूपितम् । भगवत्स्वरूपे दत्तेन वा मलयजेन सहभावादधिकशैत्यनिरूपकत्वेन अनुकूलत्वम् । मलयजस्पर्शः मलयजस्येव वा स्पर्शः । तथा सति तत्रत्यानां सर्वेषामेव भगवद्भावं सम्पादयिष्यतीति । मानयन्निति । स्वकीयैस्त्रिभिर्गुणैः यथैव सन्माननं भवति, तथैव वातीत्यतिवश्यता । उपदेवगणाश्च गन्धर्वादयश्च बन्दिनः कीर्तिनिरूपका जाताः । गायकाश्च सन्तः । **य** इति भगवदीयाः । वाद्यगीतपूजासाधनैः तामसराजससात्त्विकैः सहिताः परिवव्रुः । सर्वत्रैवापेक्षितं कृतवन्तः ॥२०॥२१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् जब श्री यमुनाजी में विहार करते थे, उस समय वहां भी कौतुक वेश धरके और जल विहार करते हुए वेणुनाद करने लगे, कारण कि, यह वेणुनाद का ही प्रसंग है। यह देख गन्धर्वादि, उपदेव गणों ने भी भगवान् को चारों तरफ घेर लिया। यमुना शब्द की सप्तमी विभक्ति देने के दो भाव हैं, एक सामीप्य का विहार, जैसे गौओं को तट पर ही खड़ी कर स्नान आदि कराना, और दूसरा, जल[1] में विहार अर्थात् गरमी में गोप तथा गौओं को जल में लेजाकर खड़ा करना और वहां उनसे विहार करना। यों विहारादि करने में भी विक्षेप की शान्ति के लिए वेणुनाद सहायता देनेवाला होने से, भगवान् उस समय भी वेणुनाद करते थे। वेणुनाद तब होता है, जब भगवान् अलङ्कृत हों इस समय कैसे नाद किया ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं, कि 'कुन्ददाम कृत कौतुक वेशः' भगवान् ने कनेर के फूलों की माला से कौतुक वेश धारण कर लिया था, अर्थात् भगवान् उस समय अलङ्कृत थे। यों भी न समझना, कि पुष्प अलङ्कार नहीं होते हैं, अलङ्कृत नहीं करते हैं, अलङ्कृत तो वस्त्र आभूषण ही करते हैं, इन फूलों से अनेक प्रकार की मालाएं बनती हैं,

---

१—अधिकरण,

जिनसे भगवान् ने अपना एक अति अद्भुत वेष धारण किया था। भगवान् होकर वैसी प्राकृत लीला कैसे की ? इस पर कहती हैं, कि नन्द का पुत्र तेरा बालक है, अतः जिस लीला से नन्द का पुत्र हुआ है, वैसे ही लीला से प्राकृत लीला को भी करते हैं। यशोदा को यहां 'अनवे' इसलिए दिया है, तू अघ रहित है, जिससे तुझे इस पर विश्वास भी होगा और क्रोध भी न होगा। और यह तेरा वत्स[1] हुआ है, इससे तू गो रूप है, जिससे यह सूचन किया है, कि सर्व गुप्त रसों को तुम नहीं समझ सकती हो। यदि जानती होती, तो भगवान् को उलूखल में न बान्धती। श्लोक में "नन्दसूनुः" और "तव वत्सः" इन दो पदों के मध्य में यशोदा का विशेषण 'अनघे' दिया है, जिसका भाव यह है, कि जैसे यशोदा निर्दोष है, वैसे नन्दजी भी निर्दोष है, निर्दोष के यहां, प्रकट प्रभु भी निर्दोष है, किन्तु प्रभु में पूर्ण गुणता है, यह दिखाने के लिए आगे के विशेषण दिए हैं। 'प्रणयिनां नर्मदः' स्नेहवालों को आनन्द देनेवाले हैं, जो कोई भी, स्नेहवाले हैं, वे जैसे जैसे स्नेह युक्त हो जायें भगवान् भी वैसो ही स्नेहमयी लीला करते हैं। इससे सर्वत्र स्नेह ही हेतु है, यह बता दिया। जहां ही लीला की आसक्ति से क्रीड़ा होती है, वह क्रीड़ा विहार है। यहां जल क्रीड़ा, नृत्य क्रीड़ा और वेणु वादन क्रीड़ा को विहार जानना चाहिए। यदि ये क्रीड़ाएं न होवें, तो वाद्य आदिकों का उपयोग यहां न होता। विद्यावालों को ही वश करना चाहिए, विद्या को प्रकट करनेवाला वायु है, देव उसके आधार भूत हैं। उनमें भी, उपदेवगण और बन्दी बाहर विद्या प्रकट करनेवाले हैं, अतः अन्यों की अपेक्षा, उनमें विशेषता कही है। पहले कारण भूत वायु का निरूपण करती हैं, वायु जैसे अनुकूल हो वैसे मन्द-मन्द चलता है, अनुकूल का आशय यह है, कि श्री यमुनाजी के तट के पास हित करनेवाला है अर्थात् यह वायु शीतलता देता है और यह वायु दक्षिण की दिशा से आने से, वहां की चन्दन की गन्ध ले आता है, अर्थात् सुगन्धि भी देता है वह सुगन्धि युक्त वायु भगवान् के श्रीअङ्ग के स्पर्श होने से, अधिक शीतलता देनेवाला बन जाता है। यों होने से, वहां जो भी रहते हैं, उन सबको यह वायु भगवद्भाव सम्पादन करेगा। अपने इन तीन गुणों से, जैसे ही भगवान् का सन्मान होता हैं, वैसे ही बहता है। इस प्रकार वायु, भगवान् के अतिशय वश में है, यह प्रकट कर दिखाया। गन्धर्व आदि उपदेवगण तथा बन्दीजन गान करते हुए भगवान् की कीर्त्ति निरूपण करनेवाले हुए। श्लोक में 'ये' पद देकर यह भाव प्रकट किया है, कि गन्धर्व आदि सब भगवदीय हैं उन्होंने तामस वाद्य, राजस गीत और सात्विक पूजादि साधन सहित भगवान् को चारों तरफ घेर लिया, सर्वत्र जो अपेक्षित था वह करने लगे ॥२०-२१॥

आभास—एवं गुणातीते प्रकीर्णतां निरूप्य युगलद्वयेन केवलं भगवत एव चरित्रमाहुः **वत्सल** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार, गुणातीत के तीन प्रकारों में से एक घुटक प्रकार का वर्णन कर, अब वत्सल आदि दो युगलों से केवल प्रभु के चरित्र का वर्णन करती हैं—

श्लोक—वत्सलो व्रजगवां यदग्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥

१-बछड़ा

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–गोवर्द्धन पर्वत को धारण कर, व्रज तथा गौओं पर प्रेम प्रकट करनेवाले, मार्ग में वृद्ध जनों से वन्दित चरण वाले, सेवकों से स्तुति किए हुए, गायों के खुरों से उड़ी हुई रज से संलिप्त माला वाले, देव की जठर में रहे हुए, ये चन्द्र, सांझ के समय बंशी बजाते हुए, सकल गोधन को अपने पास लाकर, श्रम की कान्ति से भी गोपियों की दृष्टि को आनन्द देते हुए, मित्रों को आशीर्वाद देने की इच्छा से पधारते हैं ॥२२–२३॥

सुबोधिनी—भगवान् यद् गोकुलं गोष्ठे समानयति, तत् कृपया । अन्यथा एकस्यामपि लीलायां व्यापृता गावो मुच्येरन् । तथा गोपिकाः । परं कृपयैव भजनानन्दानुभवार्थं तथा करोति । अत्र हेतुः **यदगध्र** इति । यद् यस्मात् कारणात् अगं पर्वतं धारयतीति । यदि भजनानन्दं न दद्यात्, तदा गोवर्धनोद्धरणं न कुर्यात् । एतद्भगवन्माहात्म्यं सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह **पथि वृद्धैर्वन्द्यमानचरण** इति । वृद्धाः सर्वतो निपुणाः । बहुज्ञैरेव भगवान् सेव्यो भवति । अतः कृत्स्नमेव गोधनमुपोह्य, ततः पृथक्कृत्य, उप समीपे समाहृत्य वा । **दिनान्त** इति । अग्रे वनस्थितेरयुक्तत्वात् । लीलान्तरस्य च चिकीर्षितत्वात् । गीतवेणुर्जातः । श्रमापनोदनार्थं व्रजस्थानां ज्ञापनार्थं च । अस्य नादस्याग्रे कार्यं वक्तव्यम् । गोपिका एव कृतार्थाः करोतीति न, किन्तु गोपानपीति ज्ञापयितुं तत्कृतस्तोत्रमाह **अनुगेडितकीर्ति**रिति । अनुगैः सेवकैरीडिता कीर्तिर्यस्य । अनेन रात्रौ तेषामपि गानमुक्तं भवति । यथा दिवसे गोपिकानाम् । अन्यथा सर्वेषां निरोधो न भवेत् । एतादृशस्य कार्यं स्वयमेव जानातीति स्वयमेव करोतीत्याहुः **उत्सव**मिति । श्रमरुचा व्रजस्थदृशां उत्सवमुन्नयन् आशिषो दित्सया एतीति सम्बन्धः । श्रमयुक्ता रुक् कान्तिः । भगवतः श्रमाभावपक्षे प्रदर्शनमात्रपरत्वम् । अस्ति श्रम इति सिद्धान्तः । 'भर्ता सन् म्रियमाणो बिभर्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्टः' 'यदा भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेतीति' श्रुतेः । सर्वधर्माश्रयत्वाच्च । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वादश्रान्तोऽपि । न तु केवलमश्रान्त एव । श्रमः सुखकारक इत्यपरे । तत्सम्बन्धिनी रुक् श्रमरुक् । सा नायकगता स्त्रीणां न हितकारिणी । तथाप्यस्माकं हितकारिण्येव जातेत्याहुः **दृशीनामुत्सवमुन्नयन्नि**ति । दृशिर्दर्शनम् । यदि भगवान् श्रान्तो न भवेत्, तदा शीघ्रं गच्छेत् । तदा दृष्टीनां परमानन्दसन्ततिर्न स्यात् । ऊर्ध्वं नयन्निति संघाते दृष्टीनां य आनन्दः स्थितः यावान्, तदपेक्षयाधिकं कृतवानित्यर्थः । भगवत्कीर्तेः सर्वपुरुषार्थदातृत्वाय प्रकारं वदन् श्रममुपपादयति **खुररजश्छुरितस्रगिति** । गोखुररजोभिश्छुरिता व्याप्ताः स्रजो माला यस्य । वायुवशादुद्गतो रेणुः न स्थिरो, नापि नियतः । खुरजातस्तु तथा । खुराणामेव गोत्वात् प्रकृतत्वाच्च न गोग्रहणम् । 'पशवो वा एकशफा' इत्यत्र तथा निर्णयात् । अनेन धर्मोऽयमिति निरूपितम् । रजोऽर्थः । व्याप्तिः काम इति । आगमनस्य तु यत् कार्यं तदाहुः । सुहृदां सर्वेषामेव सम्बन्धिनामाशिषः सर्वा एव देया इति । उक्तं गोपिकाद्वारा सर्वेष्वानन्दप्रवेश इति । **एष** इति प्रदर्श्याहुः । यतः स्वस्मिन् लीला ज्ञापिता भवति । साधारण्येन सर्वेषां तापनाशकत्वाय भगवद्गतमसाधारण

धर्ममाहुः **देवकीजठरभूरुडुराज** इति। 'अदिति-र्देवकी अदितिर्द्यौरदीतिरन्तरिक्ष' मिति श्रुतेः अदित्यवतारत्वात् द्यु रूपा सा। तस्यामवश्यं चन्द्रोदयोऽपेक्षित एव। सा पुनर्विशेषरूपं गृहीत-वतीति चन्द्रोऽपि विशिष्टकार्यं करोति। लौकि-कस्तापस्त्रिविधो भगवद्विरहजश्च। अयं त्रिवि-धमपि नाशयतीति पूर्वोक्तमानन्ददातृत्वमुपपादि-तम्। देवकीजठरे भवतीति देवकीजठरभूः। स एव उडुराजः। जायते, यथा उदयाद्रौ। पतिस्तु नक्षत्राणामेव भवति। तथा देवक्यां जातः, परं सुखदोऽस्माकमेव ॥

(अथवा, एतास्तु भगवद्विरहेणार्ता इति स्वाभिलषितप्रकारेण तदङ्गसङ्गव्यतिरेकेण नैता-सामुत्सवो भवतीत्यार्ता एव स्थिताः। परं दृशीनां दर्शनं मुख्यमिति तेनैवोत्सवोन्नयनमुच्यते। तथा च आर्तानामस्माकं दृशीनामिति समासो ज्ञेयः। आर्तशब्दस्य ह्रस्वोऽपि छान्दसः। नहि दृशीना-मेवार्तत्वमत्र विवक्षितम्। प्रकारान्तरेणापि तत्स्वरूपरसास्वादवत्यः स्वामिन्य इति सर्वेन्द्रि-याणामेवार्तत्वसम्भवात्। तदैव सर्वत्रोत्सवे पुन-राशिषोऽनभीप्सितत्वेनाग्रे तद्दित्सोक्तिरप्यनुपपन्ना स्यात्। दृशीनामुत्सवो बहिरेव। अन्तरुत्सवस्य त्वधिकरणं मनः, तस्यातृप्तत्वान्न स इदानीम्, परमग्रे सम्भोगसामयिकदर्शने भविष्यतीति ज्ञाप-नायोर्ध्वमित्युक्तम्। यथा गोप्यो 'दिदृक्षितदृशोऽ-भ्यगमन् समेता' इत्यत्र दर्शनानन्तरमपि दृशां दिदृक्षितत्वम्, एवमत्रापि ज्ञेयम्। अत एव दृशी-नामिति। सम्बन्धषष्ठ्याप्युत्सवस्य तत्सम्बन्धि-त्वमेव प्राप्यते। तत्रापि भगवत्कर्तृकनयनोक्त्या तासां बहिरुत्सवोऽपि प्रियप्रापित इति तद्दर्शनस्व-भावान्न स्वत इति बोध्यते। अत एवोत्सवकर-णत्वं श्रमरुचोऽपि युज्यते। अन्यथा चिरादुत्क-ण्ठितानामासां प्रियतमागतश्रमनिरीक्षणेनाग्रिम-रसप्रतिबन्धशङ्क्या न उत्सवः स्यात्। प्रत्युत पूर्वापेक्षयाधिकतरः खेद एव स्यात्। किञ्च, विनास्माभिरन्येन प्रियः श्रमापनोदनं न कारयति, वयमतः परं करिष्याम इति श्रमरुचस्तथात्वं युक्तमेव। श्रमस्य कान्तित्वनिरूपणेनापि स्वम-नोरथाप्रतिबन्धकत्वात्तथेति ध्वन्यते। श्रमोऽप्य-न्यनायिकाविषयकश्चेत्, कथं दृशामुत्सव इति चेत्, तथा नेत्याहुः **खुररजश्छुरितस्रगिति**। यद्य-प्यन्यनायिकाविषयकः स्यात्, तदा स्रजि तदङ्गराग एव स्यात्, न तु खुररजः। रजोऽप्यागमनसाम-यिकं चेत्, सम्भवेदपि तथा, परं चिरकालीनमिति ज्ञापनाय छुरितत्वमुक्तम्। अल्पकालेन तथात्व-स्यासम्भवात्। किञ्च, तथा चेत्, स्रगपि न स्यात्, क्रीडान्तरायत्वात्। अतो ज्ञायते सुहृदामस्माक-माशिषो दित्सया एतीति। एतीत्यागमनक्रियायां कर्मानुक्त्यापि तथेति ज्ञाप्यते। अयं भावः। 'कर्तुरभीप्सिततमं कर्म' भवति। तेनात्र भगव-त्कर्तृत्वात्तदभीप्सिततमत्वमस्माकमेव, नान्यस्य। अन्यथा व्रजमेतीत्युक्तं भवेत्। यद्यपि सर्वेषामेव निरोधश्चिकीर्षतो भगवत इति व्रजस्याप्यभीप्सि-तत्वम्, तथाप्यभीप्सिततमत्वलक्षणोतिशयोऽस्मा-स्वेवेति तथोक्तम्। तन्निदर्शनमेवाहुः **एष** इति। अन्यथा कथमात्मानं प्रदर्शयेत्। दक्षिणनायक-त्वेनान्तर्भाववैषम्याभावायाहुः **देवकीजठरभूरिति**। सर्वथा निर्दुष्टा हि देवकी। तदुदरे प्रकटस्तथे-त्यर्थः। तादृशस्य भवतीषु को विशेष इत्यत आहुः **उडुराज** इति। यथा चन्द्रः सर्वेषां तापहा-रकः दूरादेव, परं पतित्वेनातिनिकटे नक्षत्राणा-मेव, तथायमपि सर्वेषां तथा दूरादेव, परं पति-त्वेनास्माकमेव तथेति भूयान् विशेषः सम्पद्यते। स यथा नक्षत्रमण्डले तिष्ठंस्तैरेव राजमानः सर्वतापनिवर्तकः, तथायमप्यस्मन्मण्डले तिष्ठन्न-स्माभिरेव राजमानस्तथेत्युडुराजपदेन द्योत्यते।) इदं सर्वं कार्यं वेणुनादसाध्यमिति प्रकरणित-त्वात् ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ--भगवान् दिन के अन्त में[1] जो गायों को गोष्ठ में ले आते हैं, उसका कारण कृपा है। यदि कृपा न होती, तो नहीं लाते, न लाने से एक ही लीला में व्यावृत[2] गाएँ मुक्त हो जातीं। जिससे, भजनानन्द के अनुभव से वंचित रहती थी, अतः भजनानन्द के अनुभवार्थ कृपा कर, उनको गोष्ठ में ले आए। भगवान् की प्रीति जैसी गायों से थी, वैसी गोपियों से भी थी। इसलिए गायों को गोष्ठ में ले आए, कारण कि रात्रि को गोपियों को भजनानन्द का दान करना था। (मूल श्लोक में 'व्रजगवां' पद में व्रज शब्द गोपियों का सूचक है, गोपियों तथा गायों दोनों पर प्रेम होने से, भजनानन्द रस दोनों को मिले, तदर्थ शाम को गोष्ठ में पधारे हैं) आप को भजनानन्द रस का दान करना था, इसीलिए ही, आपने गोवर्द्धन पर्वत को धारण किया था, यदि भजनानन्द का दान न करने की इच्छा होती, तो गोवर्द्धन को न उठाते। गोवर्द्धन धारण से, जो माहात्म्य हुआ, वह प्रसिद्ध ही है, अतः मार्ग में आते समय वृद्धों ने आपको वन्दन किया है, वृद्ध पद का आशय है, कि वे अनुभवी निपुण होते हैं। इस प्रकार जो बहुत जानकार चतुर होते हैं, वे ही भगवान् की सेवा कर सकते हैं। अतः भगवान् गौओं को वन से पृथक् कर, अपने पास लाके सायं को खिड़क में ले आए, कारण कि सायं काल के अनन्तर गौओं का वन में रहना ठीक नहीं है और यह भी दूसरा कारण है, कि भगवान् की इच्छा दूसरी लीला करने की थी। इसलिए वेणु बजाया, वेणु बजाने का हेतु यह है, कि एक तो वेणु नाद से श्रम मिटेगा और दूसरा व्रजस्थों को भगवान् पधार गए हैं, यह सूचित हो जाएगा। इस नाद का आगे का कार्य कहना चाहिए। भगवान् गोपियों को ही केवल कृतार्थ करते हैं यों नहीं है, किन्तु गोपों को भी कृतार्थ करते हैं, जिसका प्रमाण यह है, कि जैसे गोपियां दिन को भगवद् गुण गान करती हैं, वैसे ही गोप रात्रि को भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं, यदि इस प्रकार न होवे, तो सर्व का निरोध न होवे।

इस प्रकार के भक्तों का कार्य आप ही जानते हैं तथा आप ही करते हैं यह 'उत्सवं' पद से इस भाव को दृढ़ करती हैं, कि भगवान् श्रम की कान्ति से व्रजवासियों के नेत्रों के आनन्द को बढ़ाते हुए, उनको आशीर्वाद देने की इच्छा से पधारे हैं।

श्लोक में 'श्रमरुचा' पद है, जिसका अक्षरार्थ 'श्रमयुक्त कान्ति है। भगवान् को लीला करते हुए, श्रम हुआ था क्या ? इसके उत्तर में, कहते हैं, कि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, उनको श्रम होता भी है, नहीं भी होता है, यदि श्रम नहीं हुआ यों माना जाए, तो 'श्रमरुचा' का भावार्थ इस प्रकार समझना, कि भगवान् का श्रम केवल दिखावा मात्र है। किन्तु भगवान् को श्रम हुआ यह सिद्धान्त है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'भर्ता सन् म्रियमाणो बिर्भाति,[3] 'एको[4] देवो बहुधा निविष्टः' (यदा[5]भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेतीति श्रुतेः' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि भगवान् सर्व धर्मों के आश्रय हैं, जिससे निश्चित सिद्धान्त यह है, कि आप विरुद्ध धर्माश्रयी हैं इसलिए आपको श्रम नहीं होता है, यों भी नहीं है। कितनेक कहते हैं, कि 'श्रम' सुखकारक है उस सुख कारक श्रम की कान्ति भगवान् पर थी। गोपियां कहती है, कि नायक के श्रम की कान्ति साधारण स्त्रियों को

१-शाम को, २-आसक्त ३-भर्ता होकर भरण किया हुआ पालता है, ४ एक देव अनेक प्रकार से प्रविष्ट है, ५-जब भार से तन्द्रा होती है तब भार धारण के लिए किसी को रखकर आप अदृश्य हो जाते हैं,

हितकारिणी नहीं है, तो भी, हमारे लिए वह श्रम युक्त कान्ति हितकारिणी ही हुई है, क्योंकि भगवान् यदि श्रमित[1] न होते, तो शीघ्र पधार जाते, तो अब जो श्रमित होने से आप यहां रुक गए हैं, जिससे हम आपके दृष्टि के परम आनन्द समुद्र के विस्तार को पाकर आनन्द मग्न हो सकी हैं, नहीं तो, न हो सकती। भगवान् तो देह में नेत्रों को जो आनन्द प्राप्त है, उससे भी विशेष आनन्द दे रहे हैं, अतः कहा है, कि ऊपर ले जाते हुए आनन्द दे रहे हैं।

भगवान् की कीर्ति सर्व प्रकार के पुरुषार्थों को देने वाली है, जिसका प्रकार बताते हुए श्रम का उपपादन करती हैं। भगवान् की मालाएं गौओं के खुरों से उड़ी हुई रज से भरी हुई है। यह रज, वायु से उड़कर आके पड़ी हुई रज के समान अस्थिर नहीं हैं, किन्तु स्थिर है और वायु से उड़ी हुई रज एक स्थान पर नहीं पड़ती है, वैसे भी नहीं है, क्योंकि एक ही स्थान पर मालाओं पर है। श्लोक में 'गो' शब्द न देकर, केवल 'खुररजः' कहा है, खुर शब्द से 'गौ' समझना चाहिए कारण कि गौओं का ही प्रकरण है और पशु खुर वाले होते हैं यह श्रुति में निर्णय है। इससे यह धर्म हैं यह निरूपण किया, 'रज' अर्थ है और 'व्याप्ति'[2] काम है, व्रज में पधारने का कार्य कहती है, कि सकल सुहृद तथा सम्बन्धियों को सभी प्रकार के आशीर्वाद देने हैं। तात्पर्य यह है, कि गोपीजनों द्वारा सकलों में आनन्द का प्रवेश कराने के लिए पधारे हैं। 'एष' पद से गोपियां कहती हैं, कि यह जो इस प्रकार लीला करने वाले जो सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे अपने अन्दर भगवल्लीला चल रही हैं यह सिद्ध हुआ।

भगवान् साधारण रीति से, सकल जीवों के ताप को नाश जिस धर्म के कारण करते हैं, भगवान् के उस असाधारण धर्म का वर्णन करती हैं। 'देवकी जठर भूरुडुराजः' द्वारा देवकी के जठर से उदय हुआ यह चन्द्रमा है, "अदितिर्देवकी अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्षम्"[3] इस श्रुतिके अनुसार देवकी अदिति का अवतार होने से आकाश रूप है, आकाश में चन्द्रमा का उदय होना आवश्यक, अपेक्षित है। देवकी ने जब फिर एक विशिष्ट रूप ग्रहण किया है तो चन्द्रमा भी विशिष्ट रूप लेकर देवकी से उदित हुआ है अतः वह कार्य भी विशेष प्रकार का करेगा। लौकिक ताप तो एक ही तरह का होता है किन्तु भगवान् से उद्भूत ताप तीन प्रकार का होता है, आधिभौतिक[4] आध्यात्मिक[5] और आधिदैविक[6], इन तीन तापों को वह चन्द्र नाश करता है। इससे प्रथम कहा हुआ भगवान् का आनन्ददाता होना सिद्ध किया। देवकी के जठर में रहे "देवकी जठर भूः" कहा। ये ही नक्षत्रों के स्वामी चन्द्र हैं, तात्पर्य यह है, कि जैसे चन्द्रमा उदय गिरि पर उदित होता है, किन्तु पति तो नक्षत्रों का ही होता है, उसी प्रकार यद्यपि यह चन्द्र देवकी से उदित हुआ है, किन्तु हमको ही सुख देनेवाला है।

ये गोपियां भगवान् के विरह से पीड़ित थीं, यह पीड़ा इनकी तब निवृत होगी जब भगवान् के अङ्गों का सङ्ग होगा। तब तक ये पीड़ित ही रहेगी, परन्तु नेत्रों का दर्शन मुख्य काम है इसीलिए ही नेत्रों के दर्शन से उत्सव का वर्णन किया है। "आर्तदृशीनां" पाठ मानने पर केवल नेत्र ही आर्त हैं, यह विवक्षित नहीं किन्तु हम आर्तों के नयनों का उत्सव नन्दनन्दन का आगमन है, यह अर्थ होगा।

१–थके हुए, २–फैलाव, ३–अदिति देवकी है, अदिति आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है ४–देह में रहता है, ५–इन्द्रियों में उत्पन्न होता है, ६–आत्मा में होता है

स्वामिनियों को अन्य प्रकार से भी स्वरूप रस का आस्वाद ज्ञात है अतः सभी इन्द्रिय आर्त हो सकती हैं। यहां 'आर्ता' न होकर 'आर्त' प्रयोग छान्दस है।

भगवान् यदि वन से पधारते समय यदि दृष्टि से सम्पूर्ण इन्द्रियों को रसदान करें तो, भगवान् यहां हमको सभी तरह की आशिषें देने के लिए पधार रहे हैं, यह इच्छा गोपियों को न रहे अतः इस समय तो केवल नेत्रों को ही रसदान हुआ है, जिससे उत्सव माना गया है। यह रसदान तो बाहर का है। अन्दर के रस का अधिकरण[1] मन[2] है, वह अभी तृप्त नहीं हुआ है। इसकी[3] तृप्ति तो भोग समय में जो दर्शन होगा उससे होगी, इसलिए "उन्नयन्" पद कहा। जैसे प्रथम दर्शन के अनन्तर भी, गोपियों को नेत्रों के दर्शन की इच्छा रही थी, वैसे ही यहां भी पुनः भोग समय में इच्छा है। इस समय जो बाहर उत्सव[4] हुआ है, वह भी भगवान् द्वारा हुआ है, भगवद्दर्शन का स्वभाव ही आनन्द उत्पन्न कराने वाला है, नेत्र स्वतः तृप्त नहीं हुए हैं। श्रमकान्ति भी इसीलिए उत्सव का कारण[4] है। यदि श्रम कान्ति उत्सव का साधन न होती तो, बहुत समय से उत्कंठावाली इन गोपियों को प्यारे को श्रमित देखकर, मन में यह शंका होती, कि अब हमको रस की प्राप्ति नहीं होगी तथा इस शंका से गोपियों में उत्सव न होता बल्कि पहले से भी अधिक खेद ही उत्पन्न हो जाता। वैसी शंका न हुई, कारण कि श्रम कान्ति देखकर भी, प्रसन्नता इसलिए हुई, कि यह जो श्रम है उसका निवारण प्यारा हमसे ही करावेगा। हमारे सिवाय अन्य से नहीं करायेंगे। इसके अनन्तर हम ही श्रम को उतारेंगी इसलिए यह श्रम कान्ति हमारे मनोरथ में प्रतिबन्धक नहीं है अतः श्रम कान्ति योग्य ही है, श्रम का कान्ति के रूप में निरूपण भी अपने मनोरथ में विघ्न करनेवाला नहीं है अतः किया गया। यदि श्रम भी अन्य नायिका सम्बन्धी होता तो हमारे नेत्रों को उत्सव कैसे कराते? अतः यों नहीं है, जिसकी पुष्टि में कहती हैं, कि 'खुररजच्छुरितस्रग्' यदि यह श्रम अन्य नायिका के सम्बन्ध से हुआ होता, तो भगवान् की माला में उनके अङ्गों का राग लिपा हुआ होता, वह तो है नहीं, बल्कि गायों के खुरों से उड़ी हुई रज से व्याप्त है और वह रज भी अभी की नहीं है, पहले की है जिससे माला रज से लिप्त हुई दिखती है, अतः अन्य नायिका सम्बन्धी श्रम नहीं है और यदि अन्य से सम्बन्ध हुआ होता, तो यह गले में माला भी न रहती, कारण कि माला क्रीड़ा में रुकावट होती है, इन सब हेतुओं से जाना जाता है, कि भगवान् हम मित्रों कों आशिष देने के लिए ही पधार रहे हैं। यहां श्लोक में 'एति' क्रिया का कर्म स्पष्ट नहीं कहा गया है, जिससे समझा जाता है, कि आपके पधारने का कारण हमको आनन्द देना है, क्योंकि वही आपका अत्यन्त इच्छित कार्य है। कर्ता के इच्छित कार्य को 'कर्म' कहा जाता है अतः यह ही कर्म है, इसलिए गोपियां उदाहरण देती हैं, कि 'एष' अर्थात् ये जो हमको सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे बताती हैं, कि हम आपको प्रिय हैं तथा हमारा मनोरथ पूर्ण करने के लिए ही दर्शन दे रहे हैं।

आप दक्षिण नायक[6] हैं, अतः आपके भीतर किसी प्रकार की विषमता[7] नहीं है, कारण कि आप निर्दोष देवकी के जठर[5] से उत्पन्न हुए हैं। भेद भाव रहित भगवान् आपके साथ क्या विशे-

---

१–स्थान, २–मन सर्व इन्द्रियों का दर्शन है, ३–मनकी, ४–आनन्द को उत्पन्न करनेवाला कार्य, ५–साधन, ६–सर्व नायिकाओं में एक जैसी प्रीति दिखानेवाला चतुर नायक ७–असमानता, ८–कूख।

षता बरतते हैं। यह कहती हैं कि जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों का पति होने से अन्यों का ताप तो दूर से ही हरण करता है, किन्तु नक्षत्रों का तो अत्यन्त समीप में जाकर ताप हटाता है, वैसे ही भगवान् भी सर्व का निरोध करनेवाले होने पर भी, पति हमारे ही हैं अतः अन्यों का ताप तो दूर से मिटाते हैं और हमारा तो हमारे मण्डल में स्थित होकर वैसे ताप को मिटाते हैं जैसे चन्द्र नक्षत्र मण्डल में रहकर उनका ताप मिटाते हैं, यही विशेषता है। ये सारे कार्य वेणुनाद द्वारा सिद्ध होते हैं अतः प्रकरणानुरोध से निरूपण किया ॥२२॥२३॥

आभास—साधारणीं लीलामुक्त्वा गोपिकास्वेव वेणुकृतां भगवतैव जनितां लीलामाह मदेति ।

आभासार्थ—साधारण लीला का वर्णन कर, अब इस युग्म में वेणु ने जो गोपिकाओं में ही लीला की, उसका तथा भगवान् ने जो लीला उत्पन्न की, दोनों का वर्णन करती हैं–

श्लोक—**मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।**
बदरपाण्डूवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ–मद से घूर्णित नेत्रवाले, अपने मित्रों को अल्प मान देनेवाले, बेर सदृश पाण्डु वर्ण जैसे मुख वाले, वनमाला धारी, सुवर्ण के कुण्डलों की शोभा से कोमल गण्डस्थल को सुशोभित करनेवाले, गजराज के समान विहार करनेवाले, ये यदुपति श्री कृष्ण सांझ के समय, हंसते मुख, जब व्रज में पधारते हैं, तब व्रज तथा गायों के अन्तरहित दिन के ताप को चन्द्रमा की तरह दूर करते हैं ॥२४–२५॥

सुबोधिनी—यदुपतिः मुदितवक्त्र उपयातीति । पूर्वोक्ता एव वेणुनादा अत्र ग्राह्याः । दश लीलाः पूर्वं निरूपिताः, ताः सर्वा अस्मदर्थमेवेति दशधा भगवन्तं विशेषयन्ति । एक एव भगवानुभयत्रेति युगलत्वेऽपि नात्यन्तं विभागः । सर्वत्रैव वेणुनादे रजोगुणो मुख्य इति सोऽस्मदर्थं फलित इत्याहुः । मदेन विघूर्णिते लोचने यस्येति । मदोऽत्र स्वानन्दस्थित्या पूर्णाविबोधः । स ज्ञानमार्ग एवेति प्रकटयितुं सर्वविषयान् व्यावर्तयितुं विघूर्णितलोचनत्वमुक्तम् । अयं धर्मो भगवन्निष्ठो निरूपितः । स्वरूपस्थित्यर्थं तादृशोऽपीषन्मानदः, मानं प्रयच्छति । सन्माननां करोति । तेनास्माकं गम्यो भवतीति ज्ञायते । मानमभिमानं वा रजोगुणप्राकट्यात्, प्रयच्छति, खण्डयति वा, ज्ञानप्राकट्यात्, प्रयच्छति मानं द्यति खण्डयति त्रिष्वपीषदेव तत्तत् कार्यम् । ननु पूर्णस्य भवतीष्वेवंकरणे को हेतुस्तत्राहुः **स्वसुहृदा**मिति । स्वपदादसाधारण्यम् । तेन स्वस्यैव सुहृदस्ताः । महतोऽपि सुहृत्कार्यं कर्तव्यमिति । साधारणं कार्यमाह **वनमाली**ति । कीर्तिमयीं वनमालां प्रकटयतीति । **बदरवत् पाण्डुवदन** इति । बदरोऽत्र फलवाचकः । स हि घर्मेण प्रतिक्षणं विसदृशीं कान्तिं करोति ।

तत्राप्यर्धपक्वः पाण्डुवर्णो भवति । अग्रे त्वारक्तः । तथेदानीमर्धरतः, अग्रे त्वत्यन्तं रतो भविष्यतीति ईषन्मानदत्वाद्विशेषः । साधनं कीर्तिरिति मध्ये विशेषणान्तरम् । अथवा । अत्र पाण्डुशब्देन आरक्त एव गुण उच्यते । तदा वदनं वक्त्रं अधरामृतपानं लक्षितं भवति । वनवासिनां वा एतदुपभोग्यमिति वने गत्वा एतदुपभोग्यमिति सर्वाः ज्ञापयन्ति । ततोऽपि विशेषमाहुः **कनककुण्डललक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन्निति** । श्मश्रूद्गमाभावादानन्दनिधानत्वाच्च मृदुत्वं भोगार्थमुपपाद्यते । गण्ड एव रससमाप्तिरिति । कनकपदं वर्णान्तरज्ञापनार्थम् । उत्कृष्टेनापि परमानन्देनापि अस्मदर्थं कामरस एवोद्बोध्यत इति सर्वथास्मदर्थमेव भगवदागमनमिति निश्चीयते । अन्यथा शिरोभेदानस्मत्समक्षं न कुर्यादिति । ननु यद्यपि महान्, तथापि बाल इति, नन्दसुनुरिति, कथमसाधारणीं लीलां करिष्यतीत्याशङ्कां वारयन्ति **यदुपतिरिति** । अयं यादवानां पतिः । ते हि बहुस्त्रीका भवन्ति । अमर्यादार्थं विशेषणान्तरमाहुः **द्विरदराजविहार** इति । महासुरते गजेन्द्र इव महान् । तेन विना न पूर्तिरिति । तदपेक्षयाप्यादौ पूर्वतापं दूरीकरिष्यतीत्याहुः **यामिनीपतिरिवेति** । सम्पूर्णाया यामिन्या अयं पतिः । अतस्तद्गतानां विशेषेण सुखदः । नन्वहर्पतिरपि, कथमुच्यते यामिनीपतिरिवेति, तत्राहुः **एष** इति । सर्वालङ्कारभूतस्तत्र तिष्ठति । अधुना तु श्रान्त इव । दिनान्ते एष यामिनीपतिरिव चन्द्र इव दूरादेव तापनाशकः साम्प्रतम् । अग्रे तु यामिनीपतिरिव । इममर्थं ज्ञापयतीति लक्ष्यते, यतो मुदितवक्त्रः प्रसन्नवदनो भूत्वा उपयाति, समीपमागच्छति । अयं भावस्तासामेव हितकारीति पूर्वं साधारण्यमुक्तम्, उपसंहारे पुनराह **मोचयन् व्रजगवामिति** । **व्रजस्य गवां** च सम्पूर्णे दिवसे यावांस्तापः, तं सर्वमेव मोचयतीति ॥२४॥२५॥

व्याख्यार्थ—गोपियां कहती हैं, कि भगवान् आनन्दयुक्त मुख वाले होकर पधार रहे हैं। वेणुनाद जो प्रथम कहे हुए हैं, उनको ही यहां ग्रहण करना चाहिए○ । भगवान् की दश लीलाओं का वर्णन पहले किया गया है, वे सब लीलाएँ हमारे लिए ही की हैं इसलिए भगवान् का दश प्रकार से वर्णन करती हैं। दोनों स्थान पर[1] भगवान् एक ही हैं, युगल जुदे होते हुए भी उनमें विशेष भेद[2] नहीं है। सर्वत्र ही वेणुनाद में रजोगुण मुख्य है, कारण कि रजोगुण उद्दीप्त रस भाव है, उसका फल हमको ही प्राप्त हुआ है, जिसका वर्णन भगवान् को दश विशेषण देकर करती हैं।

१–प्रथम विशेषण "मदविघूर्णितलोचनः" है अर्थात् भगवान् के नेत्र मद से घिरे हुए है। यह मद पूर्णज्ञानरूप है, जो पूर्णज्ञान अपने में पूर्वानुभूत आनन्द की स्थिति के कारण है। वह पूर्णज्ञान

○ **लेख का आशय**—वेणुनाद ने अन्यों में जो कार्य किया, अर्थात् अन्यों पर जो प्रभाव डाला, उसका वर्णन पहले कहा गया है, नाद ने जो गोपियों पर प्रभाव डाला हैं, वह यहां कहा जाता है।

१–दोनों युगलों में अर्थात् आगे के युगलों में और अब इस युगल में,

२—भगवान् तथा हरि शब्द में जितना भेद है, केवल उतना भेद है–लेखकार

ज्ञान मार्ग–भगवान् के नेत्रों में ही प्रकट होता है, यह दिखलाने के लिए अन्य सारे विषयों को दूर करने के लिए भगवान् 'विघूर्णितलोचन' बन गए। यह धर्म भगवान् में रहता है।

(भगवान् के नेत्रों में इस समय पूर्व अनुभव किए हुए विविध लीला विलासों से प्राप्त आनन्द की स्थिति है। जिससे आप गोपीजनों को बताते हैं, कि जैसे तुमने सर्व विषयों को भुलाकर केवल मेरे सम्बन्ध वाले ज्ञान को अपनाया है, वैसे ही मुझे भी तुम्हारा ही केवल स्मरण ज्ञान है। उस लीला रस में छके हुए होने के कारण, मेरे नेत्र मद से घिरे हुए हैं अतः वन में भी मोद[1] है इन विशेषणों से यह भगवन्निष्ठ धर्म है ऐसा निरूपण किया गया)

२–दूसरा विशेषण है "ईषन्मानदः" भगवान् अल्प मान देने वाले हैं। यद्यपि भगवान् के नयन मद से घिरे हुए हैं, तो भी गोपिकाओं का अपना स्वरूप बना रहे एतदर्थ भगवान् अल्प ही मान देते हैं। अर्थात् भगवान् मान देते हैं सन्मान करते हैं अतः हम भगवान् के पास पहुँच सकती थी (किन्तु अल्प मान दे रहे हैं तावता अभी ही पहुँचना ठीक नहीं) अथवा मान का अर्थ 'अभिमान' लेना चाहिए, क्योंकि रजोगुण प्रकट हुआ है। उस अभिमान का दान करते हैं या खण्डित कर देते ज्ञान को प्रकट करके। चाहे (१) मान देते हों या (२) अभिमान पैदा करवाते हों या (३) अभिमान खण्डित करते हों तीनों पक्ष में क्रिया अल्प ही है।

(भगवान् अल्पमान देते हैं क्योंकि यदि विशेष मान दें तो गोपियां जो प्रेम पूर्ण हैं और समग्र दिन के विरह से क्लेश युक्त हैं, वे भगवान् के दर्शन होते ही उनमें अपनी आत्मा का प्रवेश करा दें, यों होना भगवान् को अभीष्ट नहीं इसलिए, (अर्थात्) गोपियां अपने ही गोपी स्वरूप में स्थित रहें। अतः अल्पमान देते हैं। जिससे गोपियां भगवान् से दूर ही रहती हैं, भगवान् मान देते हैं तथा सन्मान भी करते हैं जिससे समझा जा सकता है, कि हम भगवान् के समीप जा सकती हैं। अथवा रजोगुण जो उद्दीप्त रस भाव है, उसके प्राकट्य से हममें अभिमान उत्पन्न करते हैं वा उसका नाश करते हैं, भगवान् अपने नेत्रों में मद दिखाकर हमारे में भी मान उत्पन्न करते हैं अथवा नाश करते हैं, इन तीन प्रकारों में वह वह कार्य अल्प ही करते है।

जब भगवान् पूर्ण हैं तो तुममें इस प्रकार करने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्वसुहृदां' भगवान् की हम असाधारण मित्र हैं अतः महान् को भी अपने मित्रों का कार्य* तो करना ही पड़ता है)

३–'वनमाली' विशेषण से भगवान् का साधारण धर्म प्रकट किया है, अर्थात् वनमाला से अपनी कीर्त्ति प्रकट की है इसलिये ही पूर्ण भगवान् ने गोपियों को अल्पमान दिया है। यदि पूर्ण

---

*भगवान् ने गोपियों को अल्पमान देकर आश्वासन दिया है कि आपके मनोरथ हम पूर्ण करेंगे, यह आश्वासन देना 'असाधारण' कार्य है।

१–हर्ष, २–मद।

सन्मान करते तो मार्ग में अन्य देखे तो अयोग्यता प्रकट हो जिससे अपकीर्ति होवे अतः भगवान् ने अल्पमान दिया है।

४—'बदरवत् पाण्डुवदनः' इस विशेषण से गोपियाँ कहती हैं, कि जैसे बेर जो एक प्रकार का फल है, वह धूप के ताप से क्षण क्षण में पृथक् पृथक् कान्ति धारण करता है। जब अर्ध-पक्व होता है, तब पाण्डु वर्ण वाला होता है, आगे पककर सम्पूर्ण लाल बन जाता है। उसी प्रकार भगवान् भी जब अर्द्ध रमण करते हैं, बाद में पूर्ण रमण करेंगे, इसलिए ही अब अल्पमान देते हैं, पश्चात् पूर्ण मान देगें। 'कीर्त्ति' साधन है इसलिए 'ईषन्मानदः स्वसुहृदाम्' और 'बदरपाण्डुवदनः' इन दो विशेषणों के बीच में 'वनमाली' विशेषण दिया है। अथवा यहां 'पाण्डु' शब्द से स्वल्पलाली गुण कहा है, इस कथन से यह समझा जाता है, कि वदन, वस्त्र तथा अधरामृत का पान होता है, अथवा इस कहने का भाव यह है, कि गोपियां अन्य गोपियों को कहती हैं, कि इस अधरामृत के रस का पान वन में जाकर करना चाहिए, कारण कि यह अधर रस का पान वनवासियों के करने योग्य है।

५—गोपियाँ 'कनक कुण्डल लक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन्' में अन्य विशेषणों से भी कुछ विशेष कहती हैं। भगवान् का गण्डस्थल भोग के लिए उपयोगी है, क्योंकि कोमल है। कोमलता का कारण बताती हैं, कि एक तो भगवान् को 'दाढी' नहीं है और दूसरा आनन्द का स्थान है, अर्थात् आनन्द रस इसमें ही रहता है, रस की समाप्ति गण्ड में ही होती है, भगवान् का रंग श्याम है जिससे गाल का रंग भी श्याम है किन्तु कनक पद कहकर बताया है, कि अब गाल का रंग अन्य है जिससे आपको विशेष रस की प्राप्ति होगी। अतः आप उत्कृष्ट परमानन्द स्वरूप हैं, तो भी हमारे लिए तो काम रस को ही प्रबुद्ध करते हैं, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि भगवान् हमारे लिए ही पधारे हैं। यदि हमारे लिए पधारे न होते, तो हमारे समक्ष शिर को यहाँ वहाँ हिलाते नहीं।

६—गोपियां 'यदुपति' विशेषण देकर इस शङ्का को मिटाती है कि कृष्ण नन्द के सूनु महान् होने पर भी हैं तो बालक अतः वह असाधारण लीला कैसे करेंगे? यादव हमेशा बहु स्त्री वाले होते हैं, यह तो उनका भी 'पति' है अतः असाधारण लीला कर सकते हैं।

७—गोपियां 'द्विरदराजविहारः' इस विशेषण से बताती हैं, कि भगवान् महासुरत में गजेन्द्र के समान महान् हैं, अतः उनके सिवाय लीला में रस की पूर्णता नहीं होती है, इससे यह सिद्ध किया है, कि भगवान् की लीला में किसी मर्यादा का प्रतिबन्ध नहीं है।

८—गोपियां 'यामिनी पतिः' विशेषण से बताती हैं, कि इसकी अपेक्षा से भी भगवान् में यह विशेषता है, कि वह पूर्व ताप को भी दूर करेंगे जैसे चन्द्रमा दिन के ताप को भी मिटाता है. यह भगवान् सम्पूर्ण रात्रि का पति है, अतः जो उनके पास उस समय जाती हैं, उन सब का विशेष प्रकार से ताप दूर कर सुख देने वाले हैं।

भगवान् तो दिन के भी पति हैं, उनको रात्रि के पति चन्द्र के समान कैसे कहा? चन्द्र दिन

को सुख नहीं देता है, भगवान् तो दिन को भी सुख देते हैं, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती हैं, कि 'एष' यह सकल का शृंगार रूप है, जो अब यहाँ स्थित हैं, वह श्रान्त जैसे दीखते हैं, सायंकाल में चन्द्रमा की तरह दूर से ही अब ताप को नाश करते हैं। आगे तो रात्रि के पति चन्द्रमा के सदृश होकर विशेष सामिप्य में आनन्द देंगे। जिससे ही आप 'प्रसन्नवदनः'[1] हंसमुख होकर समीप में आरहे हैं, यह भाव उनके[2] ही हितकारी है, प्रथम इस प्रकार साधारणता से कहा है, अन्त में फिर कहती हैं कि 'मोचायन्[3] व्रजगवां' व्रज[4] को और गायों* को सम्पूर्ण दिवस का जो ताप रहा है उस सर्व ताप को ही नाश करते हैं ॥२४-२५॥

आभास—एवं निरोधं निरूप्य स्त्रीणामुपसंहरन् प्रकरणस्थानामेव तद्द्वारोपहरति एवमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के निरोध का निरूपण कर, अब उसका उपसंहार करने के साथ, जिन अन्यों का इस प्रकरण में निरोध हुआ है, उनका भी 'एवं व्रजस्त्रियो' इस श्लोक में श्री शुकदेवजी उपसंहार करते हैं,—

श्लोक—श्री शुक उवाच—**एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायती।**
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! जिनका ज्ञान की प्रधानता वाला चित्त तथा कर्म की प्रधानता वाला मन, केवल कृष्ण में ही है, वैसी बड़े भाग्य वाली गोपियाँ भगवान् की लीलाओं को गाती हुई, दिन में प्रसन्न चित्त रहती थीं ॥२६॥

सुबोधिनी—राजन्निति सम्बोधनं विश्वासार्थम्। व्रजगता अपि स्त्रियः एवं प्रकारेण अहस्सु भगवत्सम्बन्धरहितदशायामपि कृष्णलीला एव आनुपूर्व्येण बहुकालानुवृत्त्यर्थमनुगायतीः अनुक्रमेण गायतीः रेमिरे। स्वत आनन्दरूपा कीर्तिस्ताः प्रति जातेति तासां क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च भगवन्निष्ठैव जातेत्याह **तन्मनस्काः तच्चित्ता** इति। चित्तं ज्ञानप्रधानम्, मनः कर्मप्रधानमिति। एवं

---

* गायें तो दिन को भगवान् के साथ वन में जाती थीं उनको दिवस का ताप कैसे ? इस शङ्का का निवारण श्री प्रभुचरण करते है, कि जो गायें प्रसव होने के कारण वन में नहीं गई थीं, उन गायों का ताप मिटाया है।

१-यह नवम विशेषण है, २-गोपियों को, ३-यह दसवां विशेषण है, ४-गोपियों के।

सर्वप्रकारेण प्रपञ्चविस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च निरूपिता । नन्वेवं कथं तासां निरोधः फलित इति, तत्रोपपत्तिमाह **महोदया** इति । महानेवाभ्युदयो भाग्यराशिर्यासामिति सर्वं सुस्थम् ॥२६॥

इति श्री भागवतसुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्री मद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ।
इति दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणम् ।

व्याख्यार्थ—परीक्षित को 'राजन्' यह विशेषण देकर बताया है, कि इस पर विश्वास करो । भगवान् जब दिन को वन में पधार जाते, तब उस विरह शान्त्यर्थ तथा बहुत समय तक उनकी स्मृति बनी रहे, तदर्थ कृष्ण की सभी लीलाऐं सारा दिन क्रम पूर्वक गाती रहती थीं । जिससे, वे दिन में भी कृष्ण के आनन्द में रमण कर रही थी । भगवान् की कीर्त्ति अपने आप आनन्द रूप है, वह गोपियों में प्रकट हुई है, इससे सिद्ध होता है, कि गोपियों की क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति भगवान् में ही स्थिर हो गई है, जिससे उनके ज्ञान की प्रधानता वाला चित्त एवं कर्म की प्रधानता वाला मन दोनों भगवान् में ही लगे रहे । यों सर्व प्रकार से गोपियों की प्रपञ्च की विस्मृति और भगवान् में आसक्ति का निरूपण हुआ । उनको यह निरोध कैसे सिद्ध हुआ वह कहते हैं कि इनका बड़ा भाग्य है, जिससे निरोध सिद्ध हुआ है ॥२६॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) ३२ वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का तामस फल अवान्तर प्रकरण, ज्ञान धर्म निरूपण, सातवां अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

———

युगल गीत

राग : देव गंधार

को बिसरै उह गांइ चरावनि ।
बाम कपोल बाम भुज पर धरि दच्छिन भौंह उचावनि ।।
कोमल कर अंगुलि गहि मुरली अधर-सुधा-बरसावनि ।
चढि बिमान जे सुनत देव त्रिय तिननि मोह-उपजावनि ।।
हार-हास अरु थिर चपला उर रूप-दुखित सुख-लावनि ।
दंत धरें तृन रहत चित्र ज्यों गाँइनि-सुधि बिसरावनि ।।
मोर-मुगट स्रवननि पल्लव कटि कटि मल्ल-स्वरूप-बनावनि ।
चरन-रेनु बांछत कंपित भुज सरितनि गमन थँभावनि ।।
आदि पुरुष ज्यों अचल भूत ह्वै संग सखा गुन गावनि ।
बन बन फिरत कबहुँ मुरली कर गिरी चढि गांइ-बुलावनि ।।
लता-बिटप मनु माँझ प्रनत ह्वै फल-भर भूमि नचावनि ।
ततछिन हरित होइ प्रति अवयव मधु-धारा-उबटावनि ।।
सुंदर रूप देखि बनमाला मत्त मधुप-सुर गावनि ।
आदर देत सरोवर सारस हंस-निकट-बैठावनि ।।
बल-सँग स्रवन पुहुप-शोभा गिरी-शिखर नाद पुरवावनि ।
विविध भांति बन-गमन विचच्छन नूतन तान बनावनि ।।
सुनत नाद ब्रह्मादिक सुर-गन अधिक चित्त-मोहावनि ।
चलत लालित गति हरष ताप ब्रज-भूमि-सोक-बिनिसावनि ।।
ब्रज-जुवति-मन मैन उदित करि हरनी-भवन-छिडावनि ।
कुंद-दाम-शृंगार सकल अंग जमुना-जल-उछरावनि ।।
मुदित सकल गंधर्व-देवगन सेवा उचित करावनि ।
आरत द्रग ब्रज-गाँइनि के मन अति आनंद-बढावनि ।।
गो-रज-रंजित नव बन-माला सुख दैवे ब्रज-आवनि ।
घूमत-द्रिग मदमान देत कुंडल स्रुति-जुग-झलकावनि ।।
बदर-सहस आनन सूचत सब बिधि ज्यों अंग-सिरावनि ।
जुग-जुग गोपी रजनी-मुख सब अति पुनीत जस-गावनि ।।
इहि लीला चित बसौ लसौ नित गोपीजन-सुख-पावनि ।
'परमानंददास' को दीजै ब्रज-जन-पद-रज-धावनि ।।

॥ श्री हरिः ॥

अनुक्रमणिका

तामस फल अवान्तर प्रकरण — अध्याय २६ से ३५

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
१	अटति यद् भवान्	२८	१५	२०२
२	अत्र प्रसूनावचयः	२७	३२	१४६
३	अथवा मदभि स्नेहात्	२६	२३	५१
४	अनया राधितो नूनं	२७	२८	१४२
५	अनुग्रहाय भक्तानां	३०	३७	३०८
६	अनुचरैः समनुवर्णित	३२	८	३६२
७	अन्तर्गृहगताः काश्चित्	२६	९	२०
८	अन्तर्हिते भगवति	२७	१	१०७
९	अन्विच्छन्त्यो भगवतो	२७	४०	१५८
१०	अपरा निमिषदृग्भ्यां	२९	७	२१८
११	अप्येणपत्न्युपगतः	२७	११	१२३
१२	अलातैर्दह्यमानोऽपि	३१	८	३२२
१३	अविदूर इवाभ्येत्य	३१	३१	३४४
१४	अस्वर्ग्यमय शस्यं च	२६	२६	५४
१५	अहं विद्याधरः कश्चित्	३१	१२	३२६
१६	आप्तकामो यदुपतिः	३०	२९	२९८
१७	आरुह्यैकां पदाक्रम्य	२७	२१	१३५
१८	आहूय दूरगा यद्वत्	२७	१८	१३२
१९	इति गोप्यः प्रगायन्त्यः	२९	१	२१२
२०	इति विप्रियमाकर्ण्य	२६	२८	५८
२१	इति विक्लवितं तासां	२६	४२	९२
२२	इत्थं भगवतो गोप्यः	३०	१	२५५
२३	इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं	३१	१८	३३१
२४	इत्युन्मत्तवचो गोप्यः	२७	१४	१२७
२५	इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताः	२७	३५	१४९
२६	ईश्वराणां वचस्तथ्यं	३०	३२	३०२
२७	उक्तं पुरस्तादेतत्ते	२६	१३	२४
२८	उच्चैर्जगुर्नृत्यमानाः	३०	९	२६८
२९	उत्सवं श्रमरुचापि	३२	२३	३८३
३०	उपगीयमान उद्गायन्	२६	४४	९८
३१	उपगीयमानौ ललित	३१	२१	३३५
३२	उषुः सरस्वती तीरे	३१	४	३२०
३३	ऋषीन् विरूपानाङ्गिरसः	३१	१३	३२६
३४	एकदा देव यात्रायां	३१	१	३१७
३५	एका भ्रकुटिमाबध्य	२९	६	२१७
३६	एव मुक्तः प्रियामाह	२७	३८	१५१
३७	एवं भगवतः कृष्णात्	२६	४७	१०१
३८	एवं कृष्णं पृच्छमाना	२७	२४	१३७
३९	एवं मदर्थोज्झितलोक	२९	२१	२४८
४०	एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श	३०	१७	२८१
४१	एवं शशाङ्कांशुविराजिता	३०	२६	२९४
४२	एवं विक्रीडतो : स्वैरं	३१	२५	३३८
४३	एवं व्रजस्त्रियो राजन्	३२	२६	३९२
४४	कच्चित्कुरबका शोक	२७	६	११८
४५	कच्चित्तुलसि कल्याणी	२७	७	११९
४६	कदाचिदथ गोविन्दः	३१	२०	३३३
३७	कर्णोत्पलालकविटङ्क	३०	१६	२७९
४८	कश्चिन्महानहि	३१	५	३२०
४९	कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः	२७	१५	१२९
५०	कस्याञ्चित् स्वभुजं न्यस्य	२७	१९	१३३
५१	कस्याः पदानि चैतानि	२७	२७	१४०
५२	कस्याश्चिन्नाट्य विक्षिप्त	३०	१३	२७५
५३	काचित् कराम्बुजं शौरेः	२९	४	२१७
५४	काचिदञ्जलिना गृह्णात्	२९	५	२१७

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
५५	काचित् समं मुकुन्देन	३०	१०	२७०
५६	काचिद्रास परिश्रान्ता	३०	११	२७२
५७	कामं क्रोधं भयं स्नेहं	२६	१५	२४
५८	का स्त्र्यङ्ग ते कलपदा	२६	४०	८७
५९	किमुताखिल सत्त्वानां	३०	३४	३०४
६०	किं ते कृतंक्षिति तपो	२७	१०	१२२
६१	कुन्ददामकृत कौतुक	३२	२०	३८०
६२	कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं	२६	३३	६९
६३	कुशला चरितेर्नैषां	३०	३३	३०३
६४	कृत्वा मुखान्यवशुचः	२६	२९	५९
६५	कृत्वा तावन्तमात्मानं	३०	२०	२८६
६६	कृष्णं विदुः परं कान्तं	२६	१२	२२
६७	कृष्णरामायिते द्वे तु	२७	१७	१३१
६८	कृष्ण विक्रीडितं वीक्ष्य	३०	१९	२८४
६९	केशप्रसाधनं त्वत्र	२७	३३	१४७
७०	को भवान् परया लक्ष्म्या	३१	११	३२५
७१	क्रोशन्तं कृष्ण रामेति	३१	२७	३४१
७२	क्वणितवेणुरववञ्चित	३२	१९	३७७
७३	गति स्मित प्रेक्षण	२७	३	१११
७४	गत्यानुरागस्मित	२७	२	१०८
७५	गायन्त्य उच्चैरमुमेव	२७	४	११३
७६	गावो हिरण्यं वासांसि	३१	३	३१९
७७	गोपीनां तत्पतीनां च	३०	३६	३०७
७८	गोप्यः स्फुरत्पुरट कुण्डल	३०	२२	२८८
७९	गोप्यो लब्ध्वाच्युतं	३०	१५	२७८
८०	गोप्यः कृष्णे वनं याते	३२	१	३४९
८१	गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य	३१	२४	३३८
८२	चलसि यद्व्रजाच्चारयन्	२८	११	१९४
८३	चित्तं सुखेन भवता	२६	३४	७२
८४	चूत प्रियालपनसाशन	२७	९	१२१
८५	जगतुः सर्वभूतानां	३१	२३	३३७
८६	जयति तेऽधिकं जन्मना	२८	१	१७०
८७	ततश्च कृष्णोपवने	३०	२५	२९३
८८	ततो गत्वा वनोद्देशं	२७	३७	१५०
८९	ततो दुन्दुभयो नेदुः	३०	५	२६२
९०	ततोऽविशन् वनं चन्द्र	२७	४२	१६०
९१	तत्रैको वाच हे गोपाः	२७	२२	१३५
९२	तत्रोपविष्टो भगवान्	२९	१४	२३२
९३	तत्रारभत गोविन्दः	३०	२	२५६
९४	तत्राति शुशुभे ताभिः	३०	७	२६४
९५	तत्रैकांसगतं बाहुं	३०	१२	२७३
९६	तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां	३१	२	३१८
९७	तदङ्गसङ्ग प्रमदा	३०	१८	२८३
९८	तद्दर्शनाह्लादविधूत	२९	१३	२३०
९९	तदोडुराजः ककुभः	२६	२	९
१००	तद्यात मा चिरं गोष्ठं	२६	२२	५०
१०१	तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन	२६	३८	८०
१०२	तन्मनस्कास्तदालापाः	२७	४३	१६१
१०३	तमपृच्छद् हृषीकेशः	३१	१०	३२४
१०४	तमन्वधावद् गोविन्दः	३१	३०	३४३
१०५	तमेव परमात्मानं	२६	११	२०
१०७	तया कथितमाकर्ण्य	२७	४१	१५९
१०७	तयोर्निरीक्षतो राजन्	३१	२६	३४०
१०८	तर्हि भग्नगतयः	३२	७	३५९
१०९	तव कथामृतं तप्त	२८	९	१८७
११०	तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा	३१	७	३२२
१११	तस्या अमूनि नः क्षोभं	२७	३०	१४४
११२	ता दृष्ट्वान्तिकमायाताः	२६	१७	४१
११३	ताभिः समेताभिरुदार	२६	४३	९६
११४	ताभिर्विधूत शोकाभिः	२९	१०	२२५
११५	ताभिर्युतः श्रमं	३०	२३	२८९
११६	ता वार्यमाणाः पतिभिः	२६	८	१८
११७	तासामाविरभूच्छौरिः	२९	२	२१३
११८	तासामति विहारेण	३०	२१	२८७
११९	तासां तत्सौभगपदं	२६	४८	१०२
१२०	ताः समादाय कालिन्द्या	२९	११	२२७
१२१	तैस्तैः पदैस्तत्पदवीं	२७	२६	१४०
१२२	तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण	२९	८	२१८
१२३	तं त्वहं भवभीतानां	३१	१५	३२८
१२४	तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं	२९	३	२१५

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१२५	दर्शनीयतिलको वन	३२	१०	३६५
१२६	दिन परिक्षये नील	२८	१२	१९६
१२७	दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित्	२६	५	१४
१२८	दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो	२६	२५	५३
१२९	दुःसह प्रेष्ठविरह	२६	१०	२०
१३०	दृष्टं वनं कुसुमितं	२६	२१	४८
१३१	दृष्टो वः काच्चिदश्वत्थ	२७	५	११५
१३२	दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्ड	२६	३	११
१३३	दैत्यायित्वा जहारान्यां	२७	१६	१३०
१३४	धर्मव्यतिक्रमोदृष्टः	३०	३०	२९९
१३५	धन्या अहो अमी	२७	२९	१४३
१३६	न खलु गोपिका	२८	४	१७७
१३७	न चैवं विस्मयः	२६	१६	२४
१३८	नद्याः पुलिनमाविश्य	२६	४५	९८
१३९	न पारयेऽहं निरवद्य	२९	२२	२५०
१४०	न लक्ष्यंते पदान्यत्र	२७	३१	१४५
१४१	नाहं तु सख्यो भजतोऽपि	२९	२०	२४६
१४२	नासूयन् खलु द्वष्णाय	३०	३८	३०९
१४३	निजपदाब्जदलैर्ध्वज	३२	१६	३७५
१४४	निशम्यगीतं तदनङ्ग	२६	४	१३
१४५	निशाम्य कृष्णस्य	३१	१९	३३२
१४६	निशामुखं मानयन्तौ	३१	२२	३३६
१४७	नैतत् समाच्चरेज्जातु	३०	३१	३०१
१४८	नृत्यती गायती काचित्	३०	१४	२७७
१४९	नृणां निश्रेय सार्थाय	२६	१४	२४
१५०	पति सुतान्वय भ्रातृ	२८	१६	२०४
१५१	पदानि व्यक्तमेतानि	२७	२५	१३९
१५२	परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा	२६	६	१६
१५३	पादन्यासैर्भुज	३०	८	२६५
१५४	पुनः पुलिनमागत्य	२७	४४	१६३
१५५	पृच्छतेमा लता	२७	१३	१२६
१५६	प्रपन्नोस्मि महायोगिन्	३१	१६	३२८
१५७	प्रणतदेहिनां पापकर्षणं	२८	७	१८३
१५८	प्रणत कामदं पद्मजा	२८	१३	१९८
१५९	प्रहसितं प्रिय प्रेम	२८	१०	१९१
१६०	प्रेष्ठं प्रियेतर मिव	२६	३०	६०
१६१	बद्धान्या स्रजा काचित्	२७	२३	१३६
१६२	बर्हिणः स्तबकधातु	३२	६	३५९
१६३	बाहु प्रसार परिरम्भ	२६	४६	९९
१६४	बाहुँ प्रियांस उपधाय	२७	१२	१२४
१६५	ब्रह्मदण्डाद्विमुक्ता	३१	१७	३२८
१६६	ब्रह्मरात्र उपावृते	३०	३९	३१०
१६७	भगवानपि ता रात्रीः	२६	१	६
१६८	भजतोऽनु भजन्त्येके	२९	१६	२३६
१६९	भजन्त्य भजतो ये वै	२९	१८	२४१
१७०	भजतोऽपि न वै केचित्	२९	१९	२४३
१७१	भर्तुः शुश्रुषणं स्त्रीणां	२६	२४	५३
१७२	मणिधरःक्वचिदागणयन्	३२	१८	३७७
१७३	मदविघूर्णितलोचनः	३२	२४	३८८
१७४	मधुरया गिरा	२८	८	१८५
१७५	मन्दवायुरुपवात्य	३२	२१	३८०
१७६	महदतिक्रमणशङ्कित	३२	१३	३७०
१७७	मातरः पितरः पुत्राः	२६	२०	४६
१७८	मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां	२७	२०	१३४
१७९	मा भैष्टेत्यभयारावौ	३१	२८	३४१
१८०	मालत्यदर्शिवः कच्चित्	२७	८	१२०
१८१	मिथो भजन्ति ये सख्यः	२९	१७	२३९
१८२	मैवं विभोर्हति भवान्	२६	३१	३६

क्र.सं.	प्रतीक	अ.	श्लो.	पृष्ठ
१८३	यत्ते सुजात चरणा	२८	१९	२०८
१८४	यत्पत्यपत्य सुहृदां	२६	३२	६६
१८५	यत्पाद पङ्कज पराग	३०	३५	३०५
१८६	यदुपतिद्विरदराज	३२	२५	३८८
१८७	यर्ह्यम्बुजाक्ष तव	२६	३६	७७
१८८	यं मन्येरन् नभस्तावद्	३०	४	२५८
१८९	रजन्येषा घोर रूपा	२६	१९	४५
१९०	रहसि संविदं हृच्छयोदयं	२८	१७	२०५
१९१	रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो	३०	३	२५८
१९२	रेमे तया चात्मरतः	२७	३४	१४८
१९३	लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यो	२६	७	१७
१९४	वत्सलो व्रजगवां	३२	२२	३८२
१९५	वनलतास्तरव	३२	९	३६२
१९६	वलयानां नुपुराणां	३०	६	२६३
१९७	वामबाहुकृतवाम कपोलः	३२	२	३५२
१९८	विक्रीडितं व्रजवधु	३०	४०	३११
१९९	विरचिताभयं वृष्णि	२८	५	१७९
२००	विविध गोप चरणेषु	३२	१४	३७३
२०१	विषजलाप्ययाद	२८	३	१७६
२०२	वीक्ष्यालकावृत मुखं	२६	३९	८३
२०३	वृन्दशो व्रजवृषा मृग	३२	५	३५५
२०४	व्यक्तं भवान् व्रजभयार्ति	२६	४१	९०
२०५	व्योमयानवनिताः	३२	३	३५२
२०६	व्रजतितेन वयं	३२	१७	३७६
२०७	व्रजजनार्तिहन्	२८	६	१८१
२०८	व्रजवनौकशां	२८	१८	२०७
२०९	शङ्खचूडं निहत्यैवं	३१	३२	३४५
२१०	शरदुदाशये साधु	२८	२	१७३
२११	शरच्चन्द्राशु सन्दोहं	२९	१२	२२९
२१२	शापो मेऽनुग्रहायैव	३१	१४	३२७
२१३	श्रवणाद्दर्शनाद्	२६	२७	५६
२१४	श्रीर्यत्पदाम्बुज	२६	३७	७९
२१५	स कथं धर्म सेतूनां	३०	२८	२९७
२१६	स चुक्रोशाहिनाग्रस्तः	३१	६	३२१
२१७	स भाजयित्वा तमनङ्ग	२९	१५	२३५
२१८	सरसि सारस हंस	३२	११	३६५
२१९	सर्वास्ताः केशवालोक	२९	९	२२४
२२०	सवनशस्तदुपधार्य	३२	१५	३७३
२२१	स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ	३१	२९	३४२
२२२	स वै भगवतः श्रीमत्	३१	९	३२३
२२३	सहबलःस्रगवतंस	३२	१२	३७०
२२४	सा च मेने तदात्मानं	२७	३६	१५०
२२५	सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरा	२६	३५	७४
२२६	सुरतवर्धनं शोक	२८	१४	२०१
२२७	सोऽम्भस्यलं युवतिभिः	३०	२४	२९१
२२८	संस्थापनाय धर्मस्य	३०	२७	२९६
२२९	स्वागतं वो महाभागाः	२६	१८	४३
२३०	हन्त चित्तमबलाः	३२	४	३५५
२३१	हा नाथ रमण प्रेष्ठ	२७	३९	१५७

——

शुद्धि-पत्र

तामस प्रकरण 'फल' अवान्तर प्रकरण-अध्याय–२६ से ३२

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१५	निरोधते	तिरोधते
६	२४	प्रथम	प्रथमं
७	६	योगमायाः	योगमायायाः
७	१४	उतत्प्रणालिका	एतत्प्रणालिका
१५	१७	गेहूं को	गेहूं के कणों को
१६	३	शिशूनय	शिशून्ययः
१७	१०	व्त्यासो	व्यत्यासो
१७	१२	लोचन	लोचने
१६	२६	सर्वात्मभाव्	सर्वात्मभाव
२१	३	स्थितः	स्थिताः
२५	६	अनिवम्य	अनियम्य
२५	२२	नियत्वात्	नियतत्वात्
२६	६	चर्म	चरम
३३	२८	कान्तं परं विदुः	विदुः परं कान्तं
४१	१०	बद्धभिः	बद्धाभिः
४८	२२	दर्थ	दर्श
६१	१५	भाषणमा मिति	भाषमाणमिति
६४	१८	तुष्णीं	तूष्णीं
६६	२३	निमितम्	निमित्तम्
७०	३६	प्रयोजमि	प्रयोजनमि
७२	१३	यच्चितं	यच्चित्तं
८३	२१	कष्टममस्ती	कष्टमस्ती
८३	२७	त्वद्गुदुरण	त्वद्गुरण
८४	३२	यह	अधिक है
८८	२५	सतो	सत्व
९६	२३	ब्राह्मा	बाह्यां
९७	१४	शीत	रीति
९९	२४	लीवी	नीवी
१००	६	समबन्धे	समबन्धे वा
१०१	२८	हमको	हमसे
१०२	१२	तननू	तदनू
१०८	१९	:खी	दुःखी
१०९	५	ग्रास्यादयः	ग्राम्यादयः
१०९	१७	तदात्मिता	तदात्मिका
११२	६	वासयन	वात्स्यायन
११४	२२	मानदृष्ट्वा	मानमदृष्ट्वा
१२१	१४	मनुराम्ल	मधुराम्ल
१२३	३०	कनेर	कुन्द
१३१	२३	श्रीकृष्ञ	श्रीकृष्ण
१३३	१९	एशा	एषा
१४४	४	अघ्रि	अङ्घ्रि
१४७	३	पाग्रादा	पादाग्रा
१४९	२१	गीदड़	भेडिया
१५०	२६	वनोदेशं	वनोद्देशं
१५४	४	पारदेहं	पारयेऽहं
१५४	२६	बाध्य	बाह्य
१५५	२६	प्रित	प्रति
१५६	५	बाध्य	बाह्य
१५९	६	प्रञ्चभिः	पञ्चभिः
१६०	२३	विनबृ	निवबृ
१६७	५	स्त्था	रत्तथा
१६८	१३	सुतान्वये	सुतान्वय
१७१	१७	कारणादर्थं	कारणार्थं
१७२	७	सब	कब
१७५	१०	व्वर्थं	व्यर्थं
१७६	२३	व्छाल	इत्याल
१७७	२२	त	तं
१७८	६	भार्गेव	मार्गेण
१७८	२०	निश्रय	निश्चित
१८२	१८	अब	सब

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८८	८	किञ्चद्ध	किञ्चिद्ध
१९६	२५	गितः	मितः
१९७	१८	जलोरूह	जलरुह
२०८	२३	शन्कुयात्	शक्नुयात्
२०९	७	स्वत्	स्वित्
२१३	२२	चित्र	चित्त
२१३	२६	अपना	अपना धन
२१४	६	लक्ष्मया	लक्ष्म्या
२२४	२०	लम्बन्ध	सम्बन्ध
२२८	१२	सादकत्वेन	साधकत्वेन
२३५	३	मम्द्रुवा	मद्भ्रुवा
२४९	१८	सामना	सामाना
२५०	१८	भत्ति	भक्ति
२५५	२२	जर्हिव	जहुर्वि
२५७	३६	नवाचली	नाचनेवालो
२६४	२२	अनाधि	अनधि
२७४	६	स्पर्शो	स्पर्शौ
२७५	१४	नट्य	नाट्य
२७७	४	रक्षात्मक	रसात्मक
२७७	१३	हस्ताज्बं	हस्ताब्जं
२८२	२४	बिबोद्गं	बिम्बोद्गंम
२८३	१०	विस्रनस्त	विस्रस्त
२९८	२०	सर्वषां	सर्वेषां
३०३	९	निराभि	निरभि
३०६	२९	अथवा	स्वामिनियों के पूर्व में पढ़
३१७	४	ष्टि	पुष्टि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२०	२१	सर्पण	सर्पेण
३२०	२७	ऽग्रसी	ऽग्रसीत्
३२१	१९	शरणागत मुझे	मुझ शरणागत को
३२३	३०	तत्स्पर्व	तत्स्पर्श
३२४	३१	स्थिति	स्थित
३२८	२८	जिसमे	इसमे
३४१	१७	ख	देख
३४२	२८	अपेने	अपने
३४४	१०	एक मुक्की से तोड़ दिया	मुट्ठि में ले लिया
३५३	७	क्षण	क्षणे
३५४	१२	की उठ	की ओर उठ
३५४	२८	अनाधि	अनधि
३६०	१२	बध्धन्त	बध्यन्त
३६०	२७	वपेनं	वेपनं
३६२	६	कुपा	कृपा
३६४	२८	अभी	सभी
३६६	१०	तद्वयं	तद् द्वयं
३६६	३६	भगद्द	भगवद्द
३७२	२७	ख	रव
३७६	५	अंकुश	अधिक है
३७८	७	म्बत्धा	म्बन्धा
३८०	३०	वब्रु	वब्रु
३९२	८	मोचायन्	मोचयन्
३९३	१०	सारा	सारे
३९४	२२	हरप	हरत

राग विहाग

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग मांहि अँधेरो ॥१॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहे दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥२॥

—: इति शुभम् :—

जय नारायण प्रकाशन मंडल (रजिस्टर्ड)
जोधपुर (राजस्थान)